उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-102

हिन्दी काव्य

(आदिकाव्य, भक्तिकाव्य एवं रीतिकाव्य)

खंड

1

भक्तिकाव्य-2 (सगुण काव्य)

इकाई 9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य का महत्व	5
इकाई 10 सूरदास के काव्य में प्रेम	22
इकाई 11 मीरा का काव्य और समाज	38
इकाई 12 मीरा का काव्य सौंदर्य	53
इकाई 13 तुलसी के काव्य में युग संदर्भ	67
इकाई 14 एक कवि के रूप में तुलसीदास	83
इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें	101

HMDC-066

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओर्म अवस्थी
गुरूनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर
प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली
प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली
प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
प्रो. निर्मला जैन
ए-21/17, कुतुब एन्कलेव, फेज-I
गुड़गाँव, हरियाणा
प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय परिसर
सागर
प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली
प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद
प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला
प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क
कालोनी पंचायती हॉस्पिटल मार्ग
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात
स्व. शिव प्रसाद सिंह
प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल पारख
डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फारुकी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
श्रीमती विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक	इकाई संख्या
डॉ. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह 220, सहयोग अपार्टमेंटस मयूर विहार, फेज़-II दिल्ली-110091.	9, 10, 13 एवं 14
डॉ. चन्द्रकला त्रिपाठी रीडर, हिंदी विभाग बनारस हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी	11, 12

संकाय सदस्य
प्रो. मैनेजर पाण्डेय
पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. सत्यकाम
संकाय पाठ्यक्रम समिति
डॉ. रीता रानी पालीवाल
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. सत्यकाम (संयोजक)

निर्माण

मुद्रण
सुश्री पुष्पा गुप्ता
कॉपी एडिटर

आवरण सज्जा
श्री पंकज खरे

सचिवालयिक-सहायक
श्री हरीश कुमार सेठी
श्री रामवचन प्रजापति
श्री महावीर सिंह मैनी

अक्टूबर, 2003 (पुनः मुद्रण)
© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1999
ISBN- 81-7605-480-1

सर्वाधिकार सुरक्षित । इस सामग्री के किसी भी अंश को इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित, 2024.

MAHI-102/2

मुद्रक : के. सी. प्रिन्टिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा - 281003.

खण्ड-3 (भक्ति काव्य-2 : सगुण काव्य) का परिचय

पिछले खंड (खंड-2) में आपने कबीर और जायसी का अध्ययन किया था। इस खंड में हम भक्तिकाल के अन्य तीन रचनाकारों - सूर, मीरा और तुलसी का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस खंड में इन तीनों रचनाकारों पर दो-दो इकाइया तैयार की गई हैं जिनका विवरण इस-प्रकार है:

इकाई-9 : भक्ति आंदोलन में सूर काव्य
इकाई-10 : सूरदास के काव्य में प्रेम
इकाई-11 : मीरा का काव्य और समाज
इकाई-12 : मीरा का काव्य सौंदर्य
इकाई-13 : तुलसी के काव्य में युग संदर्भ
इकाई-14 : एक कवि के रूप में तुलसीदास

इन सभी इकाइयों में भक्तिकाल के संदर्भ में उपर्युक्त उल्लिखित कवियों का मूल्यांकन किया गया है। इकाई 9 में सबसे पहले सूरदास और उनके युग का परिचय दिया गया है। इसके बाद अष्टछाप के कवियों का परिचय देते हुए इनमें सूरदास का महत्व बताया गया है। भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूरदास की चर्चा करते हुए भक्ति आंदोलन में कृष्ण भक्ति धारा और सगुण-निर्गुण द्वंद्व में सूर की भूमिका पर विचार किया गया है। सूरदास की प्रेमाभक्ति का भी विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इकाई के अंत में सूर की काव्य भाषा और शिल्प का विवेचन किया गया है।

इकाई 10 में सूर की कविता के विभिन्न पक्षों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। सूर प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में वात्सल्य और शृंगार का बड़े ही मनोयोग से चित्रण किया है। सूर की राधा उनकी अपनी मौलिक उद्भावना है। इसी तरह भ्रमरगीत भी कवि सूर की मौलिकता और सृजनात्मकता का उत्तम उदाहरण है। सूर की कविताओं में प्रकृति मात्र उद्दीपन नहीं है बल्कि वह लोक जीवन का अभिन्न अंग बनकर प्रकट हुई हैं।

इकाई 11 और इकाई 12 मीरा पर केंद्रित है। मीरा एक विद्रोही रचनाकार हैं। उन्होंने तत्कालीन रूढ़िगत सामंती समाज और नारी पराधीनता का निर्भय होकर विरोध किया है। कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति से उन्हें समाज के विरोध के बावजूद अडिग होकर पूरे समाज को चुनौती देती रही। उनके काव्य में एक खुलापन है। उनके यहां कुछ भी छुपा नहीं है। सबकुछ शीशे की तरह साफ है।

इकाई 13 और इकाई 14 में तुलसीदास और उनकी कविता का विवेचन विश्लेषण किया गया है। इकाई 13 में तुलसीदास के काव्य में चित्रित समाज और तुलसी की विचारधारा का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इकाई के अंत में राम राज्य की परिकल्पना पर भी विचार किया गया है। इकाई 11 में कविता के बारे में तुलसीदास के विचार, मर्मस्पर्शी जीवन प्रसंगों का चित्रण, और तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फ़लक का विवेचन किया गया है। अंत में तुलसी की काव्य भाषा, उनकी कविताओं में प्रयुक्त छंद और रामचरितमानस के रूपविधान की चर्चा की गई है।

NMDC-066

NMDC-066
MAHI-102/4

इकाई 9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य का महत्व

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 महाकवि सूरदास और उनका युग
9.3 अष्टछाप और सूरदास
9.4 भक्ति आंदोलन और सूरदास
 9.4.1 भक्ति आंदोलन में कृष्णभक्ति धारा
 9.4.2 सगुण-निर्गुण द्वन्द्व में सूर की भूमिका
9.5 सूर काव्य में प्रेमाभक्ति
9.6 सूरदास की भाषा और रूप विधान
 9.6.1 सूर की काव्य भाषा
 9.6.2 सूर काव्य का रूप विधान
 9.6.3 सूर काव्य में प्रगीतात्मकता
9.7 सारांश
9.8 अभ्यास/प्रश्न

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ खंड 3 की पहली इकाई है। इसमें सगुण काव्य के प्रतिनिधि कवि सूरदास का महत्व प्रतिपादित किया जाएगा। इसे पढ़ने के बाद आप :

- कवि सूरदास, अष्टछाप और उनके युग का परिचय प्राप्त कर सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन में सूरदास का महत्व प्रतिपादित कर सकेंगे,
- सूर काव्य में प्रेमाभक्ति का निरूपण कर सकेंगे, और
- सूर काव्य की भाषा और रूपविधान को स्पष्ट कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

सूरदास भक्ति युग के प्रमुख कवि हैं। ये कृष्णभक्ति काव्य परंपरा के सिरमौर हैं। अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान प्रमुख है। सूर की काव्यात्मक विशिष्टता और उत्कृष्टता का आधार है --

क) संगीत का कलात्मक उपयोग
ख) ब्रजभूमि की लोकसंस्कृति का आत्मसातीकरण
ग) वात्सल्य चित्रण
घ) स्त्री-पुरूष संबंधों का स्वच्छंद चित्रण।

सूर भक्त कवि और कृष्ण के उपासक हैं। पुष्टिमार्गी होने के कारण सूर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी। इसमें समर्पण को ही सब कुछ माना गया है। सूर ने अपने काव्य में उपास्य कृष्ण के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिए उनके रूप, व्यक्तित्व, परिवेश, कियाकलाप, लीला आदि का चित्रण सहज मानवीय रूप में किया है।

इस इकाई में इन पक्षों पर विचार करने के साथ-साथ सूर की भाषा और शिल्प पर भी विचार किया गया है। 'सूरदास की भाषा और रूपविधान' के अंतर्गत सूर की काव्य भाषा और रूपविधान पर विचार किया गया है। सूरदास ब्रजभाषा में कविता रचने वाले पहले प्रमुख कवि हैं। उन्होंने ब्रज प्रदेश को

HMDC-066

लोक संस्कृति और वाचिक परंपरा की उत्कृष्टता प्रदान की और उसे कलात्मक उत्कर्ष प्रदान किया। संगीतात्मकता उनके काव्य का अप्रतिपम गुण है। इसमें एक कथा है पर यह प्रबंध-काव्य नहीं है। सूरसागर के कथानक की विश्रृंखला इसका प्रमुख कारण है। आइए इन पक्षों पर विस्तार से विचार किया जाए।

9.2 महाकवि सूरदास और उनका युग

सूरदास के जीवन-वृत्त के संबंध में डॉ दीन दयाल गुप्त और डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा के निष्कर्षों को प्राय: स्वीकार कर लिया गया है। उल्लिखित विद्वानों के अनुसार सूरदास का जन्म 1478 ई. में हुआ था और उनकी मृत्यु तिथि अनुमानत: 1577 ई. और 1581 ई. के बीच पड़ती है।

भक्तिकाल के किसी भी कृतिकार के जीवन-वृत्त से संबंधित तथ्यों को लेकर अभी भी विवाद बना हुआ है। इस नोकझोंक में पड़े बगैर इस सर्वमान्य तथ्य के आधार पर हमें उस युग की विवेचना करनी चाहिए कि सूरदास के पदों की रचना पन्द्रहवीं सदी के अंतिम दशक में आरंभ हुई होगी और उनकी रचनाशीलता सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक नि:संदिग्ध रूप से जारी रही होगी। सूरदास की रचनाओं से यह ज़ाहिर होता है कि वे निरगुनिया संतों के काव्य से परिचित थे। प्रेममार्गी सूफी काव्यधारा से सूर परिचित थे या नहीं - इस बात की तरफ कहीं से कोई संकेत नहीं मिलता है। भक्तिकालीन रचनाकारों के आपसी संबंधों को लेकर फैले प्रवादों में यह बात भी प्रचलित है कि किसी समय सूर और तुलसी की भेंट हुई थी। इस प्रवाद की पुष्टि अभी तक नहीं हुई है।

ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति से संबंधित गीत, गायन, कीर्तनकाव्य और संगीत की यह मिली-जुली परंपरा सूरदास को कहाँ से मिली? आप लोगों ने यह अवश्य ही सुना या पढ़ा होगा कि राधाकृष्ण से संबंधित भक्तिगीत की कीर्तन परंपरा के सूत्रपात में जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य का बहुत बड़ा योगदान है। आपने यह भी सुना होगा कि सूरदास पहले दैन्य और विनय के पद ही गाते थे। जब महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई तो आचार्य जी ने उनसे कहा : घिघियाते क्यों हो, भगवान की लीला का गान करो। इसके बाद से सूरदास के भक्तिगीतों में दास्य भाव और आत्मदीनता की प्रवृत्ति समाप्त हो गई और वे सख्य भाव से प्रेमभक्ति के गीत गाने लगे। वल्लभाचार्य की प्रेरणा से ही सूरदास श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णकथा को गीत-संगीत में रूपांतरित करने लगे। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के लोकमंगलकारी और लोकरक्षक व्यक्तित्व की भी कुछ छटाएँ और छवियाँ हैं। अत: सूरसागर में संकलित आपको सैकड़ों ऐसे पद मिलेंगे जिनमें कृष्ण लोगों की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत उठाए हुए मिलेंगे, कालिया नाग को नियंत्रित करते हुए मिलेंगे; कंस का वध करते हुए दिखाई पड़ेंगे, जनसाधारण को पीड़ित करने वाले राक्षसों का दमन करने वाले स्वरूप में उपस्थित होंगे, महाभारत के योद्धा रूप में विस्मित कर रहे होंगे। पर सूरदास की काव्य-प्रतिभा का चमत्कार आपको ऐसे आख्यान-प्रसंगों में कम ही दिखाई पड़ेगा। सूरदास का मन रमता है राधाकृष्ण, गोप-गोपिका, नंद-यशोदा और ब्रज की हरीभरी प्रकृति की जीवन्त कियाओं और मनोरम रूपों के चित्रण में। सूर की चित्रण-शैली में ब्रज की लोकसंस्कृति लिपटी हुई चली आती है तथा सूर के स्वर-संगीत में जनभाषा के रूप में ब्रजभाषा की मृदुता की और मधुरता की कलकल ध्वनि सुनायी पड़ती रहती है।

संगीत के नवोत्थान और मध्यकालीन भारत के लोकजागरण के बीच बड़ा गहरा संबंध है। सूरदास उस युग की नवोन्मेषकारी सांस्कृतिक प्रकिया और नयी भावधारा के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

कबीर, जायसी और तुलसी की तुलना में सूरदास की एक अलग किस्म की विशिष्टता इस जातीय संगीत के नवोत्थान के संदर्भ में समझी जानी चाहिए और इसकी सांगोपांग विवेचना के बाद ही सूर के प्रगीतात्मक काव्य के वास्तविक महत्व का पूरा खुलासा होगा। सूर के काव्य को **नृत्य, रास, वाद्यसंगीत, गायकी और ब्रज लोकगीत** के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। यह युग पुरन्दर दास, त्यागराज, तानसेन, बैजू बावरा, स्वामी हरिदास जैसे महान कलाकारों का था। सूरदास ललित कलाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान और घनिष्ठ अंत:क्रिया के साक्षी थे। बल्कि उनकी स्वयं की सृजनात्मक कला

IMDC-066

का विकास इसी प्रक्रिया के अंदर से हुआ था। अतः सूर-साहित्य की समालोचना के कलात्मक और ऐतिहासिक संदर्भों पर अलग से भी विचार करने की आवश्यकता है।

भक्तिकाव्य के विवेचन में हिन्दी समालोचना चाहे तो इतिहास के राजनीतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य पर एकांगी रूप से निर्भर कर जाती है, या शास्त्रीय वाद-विवाद, भाष्य और टीका की उद्धरणी पर अवलम्बित हो जाती है। बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में नया जागरण और कलात्मक उत्कर्ष आया - इसे नये विश्लेषण और विवेचन का प्रस्थान बिंदु नहीं बनाया जाता।

9.3 अष्टछाप और सूरदास

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य को सबसे अधिक प्रेरणा देने वाले महाप्रभु वल्लभाचार्य (1478 ई. - 1530 ई.) पुष्टिमार्ग के संस्थापक और प्रवर्त्तक थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके दूसरे पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (1515 ई. 1585ई.) पुष्टि संप्रदाय के आचार्य के पद पर आसीन हुए। उनकी बाल्यावस्था अरैल में व्यतीत हुई थी किंतु सन् 1566 ई. में अर्थात् 51 वर्ष की उम्र में ब्रज में आ बसे थे। इसी साल उन्हें सम्राट अकबर की ओर से एक फरमान प्राप्त हुआ जिसके अनुसार गोकुल की भूमि उन्हें माफी में धर्मार्थ के निमित्त मिल गई थी।

श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा, भोग, उत्सव आदि की व्यवस्था करते हुए उन्होंने पुष्टि संप्रदाय के प्रचार में पर्याप्त योगदान किया था। गोस्वामी विट्ठलनाथ की पहल पर ही अष्टछाप का संगठन किया गया था। उनके पिता के चार शिष्य - कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, और कृष्णदास पहले से ही तैयार थे। अब स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ के चार शिष्य - चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और नन्ददास भी नया कार्यभार स्वीकार करने के योग्य हो गये थे। अतः इन आठों को लेकर अष्टछाप का गठन किया गया। वस्तुतः ये आठ भक्त श्रीकृष्ण के अष्टसखा के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

सूरदास के समान ही परमानन्ददास भी पुष्टिमार्ग में दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ही कवीश्वर, संगीतकार और कीर्तनकार के रूप में अपनी क्षमता और प्रतिभा प्रमाणित कर चुके थे। इसी तरह कुंभनदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के निकट संपर्क में बहुत पहले से थे और पुष्टिमार्ग में दीक्षा प्राप्त कर चुके थे। **'भक्तन को कहा सीकरी सों काम'** वाला लोकप्रसिद्ध पद इन्हीं का है। अष्टछाप के चौथे कवि और कीर्तनकार कृष्णदास थे। वे जाति से शूद्र थे, पर महाप्रभु ने उन्हें मंदिर का भेंटिया बनाया था। कविता में वे सूरदास से टक्कर लेते थे।

अष्टछाप के अन्य चार कवियों में सर्वाधिक ख्याति नन्ददास को मिली है। भ्रमरगीत परंपरा की प्रगीत रचना में कलात्मक योगदान की दृष्टि से भी नन्ददास की महत्ता स्वीकार की जाती है। छठे भक्त श्री चतुर्भुजदास थे जो अपने पिता श्री कुंभनदास की भाँति गृहस्थ जीवन बिताते हुए श्रीनाथ जी की सेवा में सदैव तत्पर रहते थे। भक्ति और कविता -दोनों उन्हें उत्तराधिकार में मिली थी। सातवें भक्त गोविन्दस्वामी भी प्रगीतात्मक पदावली के रचयिता और अच्छे गायक थे। संगीत में उन्हें दक्ष माना गया है। यह भी जनश्रुति है कि प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन उनसे संगीत की शिक्षा लेने आते थे। अंतिम भक्त और कवि छीतस्वामी थे। कहते हैं कि उनके पद सुनने के लिए अकबर वेश बदलकर उनके पास आते थे।

सम्पूर्ण भक्ति-आंदोलन में किसी आचार्य के नियंत्रण में कवियों-गायकों और कीर्तनकारों के किसी संगठित मंडल का उल्लेख नहीं मिलता है। अष्टछाप जैसा समूह बाद में भारतेंदु मंडल, मतवाला मंडल, प्रगतिशील लेखक संघ या इप्टा के रूप में आधुनिक काल में ही प्रचलन में आया। 1499 ई. से 1583 ई. के बीच तक अर्थात् लगभग 84 वर्ष तक अष्टछापी भक्त कवियों का अस्तित्व रहा। डॉ. गोवर्धन नाथ शुक्ल ने 'अष्टछाप का सांप्रदायिक पक्ष' नामक अपने निबंध में बताया है कि "अष्टछाप की स्थापना भगवान श्रीनाथ जी की अष्टयाम रागसेवा के निमित्त हुई थी।" उक्त शोध निबंध में डॉ.

HMDC-066

शुक्ल की तरफ से यह सूचना भी दर्ज है कि श्रीनाथ जी के मंदिर में ध्रुपद-धमार पद्धति पर लीला-कीर्तन का प्रबंध गोस्वामी विट्ठलनाथ की व्यवस्था के अंतर्गत किया गया था। चूंकि यह मंदिर पहाड़ की चोटी पर था, अत: स्थानीय जनसाधारण का नियमित तौर पर दर्शन-पूजन आदि संभव ही नहीं था। अष्टछाप के कीर्तनकारों द्वारा श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित प्रसंगों क आधार पर ही लीलागान होता था। महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में सूरदास और गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में नंददास को छोड़कर शेष छह कवि गायकों ने विष्णुपद छंदों में ही लीलागान किया है। विष्णुपद छंद ब्रज की ध्रुवपद शैली के लिए उपयुक्त माना जाता था। विष्णुपद छंद के अतिरिक्त इन कवि गायकों ने गहरी तन्मयता में भाव-विभोर होकर धमार, होरी आदि भी रचे हैं।

अष्टछाप के कवि गायक जिस समय ध्रुवपद धमार शैली में गीतकीर्तन रच रहे थे, उन्हीं दिनों समानान्तर रूप से फतहपुर सीकरी के शाही महल में खयाल शैली के तहत कुछ खास तरह के 'रसिया' गाने की प्रथा चल पड़ी थी। जब तक अष्टछाप के कवि गायक जीवित रहे तब तक तो रसिया की यह प्रथा श्रीनाथ जी के मंदिर में पहुंच नहीं पायी। परन्तु अष्टछापी कवियों तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ की मृत्यु के बाद रसिया गाने की प्रथा श्रीनाथ जी के मंदिर में भी धीरे-धीरे पहुंच गयी।

9.4 भक्ति आंदोलन और सूरदास

भक्ति की भावधारा की एक सामान्य प्रवृत्ति भक्ति आंदोलन के सभी रचनाकारों में असंदिग्ध रूप में मिलती है। इस सामान्य प्रवृत्ति की अनिवार्य उपस्थिति के कारण ही आपको बार-बार बताया गया है कि सूरदास एक भक्त कवि थे। वे ऐसे भक्त थे जिसके इष्टदेव के दरबार में जातपाँत के आधार पर कोई भेदभाव न था। इस प्रकार की वैचारिक निष्ठा जातपाँत और धर्म-मज़हब के भेदभाव से जर्जर हो रहे तत्कालीन समाज के भौतिक अस्तित्व के लिए ऐतिहासिक आवश्यकता बन गई थी। इस आवश्यकता के प्रति कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की सम्मिलित सहमति थी - यही वह लोकसामान्य भावभूमि थी जो इन चारों भक्त कवियों को एक-दूसरे से जोड़ती थी। भक्ति आंदोलन के रचनाकारों के बीच जनभाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के सवाल पर भी समान ढंग की प्रतिबद्धता और सहमति थी। इसीलिए आप यह देखते हैं कि सूरदास उस जनभाषा में अपनी कविता रच रहे थे जो साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अपरिष्कृत और पिछड़ी हुई थी; यद्यपि अपनी प्रगीत परंपरा के लिहाज से ब्रजभाषा लोक कंठों में रची बसी हुई थी और इसी वजह से सुमधुर हो गई थी। अन्य भक्त कवियों के समान सूरदास भी शास्त्रीयता के आग्रह और उसकी जकड़बंदी से मुक्त थे तथा अपने जमाने के गृहस्थ आश्रम में रहने वाले लोकसमाज को संबोधित कर अपने पदों की रचना कर रहे थे।

उपर्युक्त तीन सामान्य प्रवृत्तियों के कारण ही सूरदास की इतनी ख्याति नहीं है। सूर की अपनी कुछ निजी विशिष्टताएं भी हैं जो उन्हें भक्तिकाल के क्लासिक कृतिकार का दर्जा प्रदान करने में अन्यतम महत्व रखती हैं। इन निजी विशिष्टताओं में चार बातों का उल्लेख अवश्य ही होना चाहिए -संगीत का कलात्मक उपयोग, ब्रजभूमि की लोकसंस्कृति का आत्मसातीकरण, वात्सल्य चित्रण और स्त्री-पुरुष संबंधों में स्वच्छंदता अथवा उन्मुक्तता का अनुमोदन। भक्तिकाव्य में जीवनदशाओं की बहुरंगी छवियों के अंकन से जो रागात्मक समृद्धि आयी है, उसके मूल स्रोत की खोज करने पर पता चलता है कि सूर के समान प्राय: सभी रचनाकारों की ऐसी ही निजी विशिष्टताएं हैं जो संवेदनाओं के विस्तार में नि:संदिग्ध रूप से सहायक सिद्ध हुई हैं। अगर भक्ति आंदोलन से सूरदास के काव्य को निकाल दिया जाए तो वह एकांगी और विकलांग प्रतीत होगा। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि भक्तिकाव्य के विकास और उसके रागात्मक वैविध्य में सूरदास का कितना निर्णातक महत्व है।

सूरकाव्य के कलात्मक और ऐतिहासिक महत्व का वस्तुगत ढंग से समुचित मूल्यांकन के लिहाज से यह जरूरी है कि आप पहले यह जानने का प्रयत्न करें कि भक्तिकाव्य में कृष्णभक्तिधारा का क्या महत्व है।

NMDC-066

9.4.1 भक्ति आंदोलन में कृष्णभक्ति धारा

कृष्ण कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे या पुराणकारों की कल्पनामूर्ति – इस विवाद से अभी तक धर्मशास्त्र और इतिहास को छुटकारा नहीं मिल पाया है। कृष्ण (आंगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख स्तुतियों की रचना करने वाले ऋषि के रूप में ऋग्वेद में पाया जाता है इसके बाद छांदोग्य उपनिषद, महाभारत, जातक कथा, भागवत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में थोड़े विस्तार से मिलता है। साहित्य में ईसा की पहली शताब्दी में लिखित 'गाथा सप्तशती' में कृष्णकथा का वर्णन उपलब्ध होता है।

प्राचीन पुराणों में केवल भागवत में गोपाल कृष्ण की कथा सम्यक रूप से वर्णित की गयी थी, परंतु उसमें भी राधा का नामोल्लेख तक नहीं मिलता। पद्मपुराण और उससे भी कहीं ज्यादा ब्रह्मवैवर्त पुराण में ही राधाकृष्ण की प्रेम-रोमांस से परिपूर्ण कथा विस्तार से की गयी है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि लोक साहित्य, गीत और कथाओं में कृष्ण के विविध रूपी असंख्य आख्यान प्रचलित रहे होंगे। अपने इस अनुमान की पुष्टि में वे मध्यकालीन जनभाषाओं की काव्यपरंपरा में कृष्णभक्ति साहित्य के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं।

सवाल यह है कि ये कृष्ण थे कौन? इसके उत्तर में निर्विवाद रूप से सभी स्वीकार करते हैं कि कृष्ण शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वंशीय क्षत्रियों के कुलदेवता थे। लोक में उनका प्रचलित नाम गोपाल कृष्ण था। अश्वघोष के 'बुद्धचरित', हाल सातवाहन की 'गाहासत्तसई', तमिल भाषा के आलवार भक्तों के भक्तिगीत संग्रह 'प्रबंधम्' आदि से होते हुए कृष्णकथा की परंपरा बारहवीं सदी के जयदेव के 'गीत गोविन्द' में परिपक्व और परिपुष्ट हो जाती है। कृष्ण, राधा और गोपियों की कथा के माध्यम से शृंगार और भक्ति का सम्मिश्रण जयदेव के गीतगोविन्द में अनुपम माधुर्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाव विभोर कर देने वाली तन्मयता की सृष्टि करने में भी जयदेव के गीत अद्वितीय माने जाते हैं। शृंगार और भक्ति की सम्मिलित भावभूमि पर कृष्णकथा का यह नया साहित्यिक विकास जयदेव के बाद मैथिली के रचनाकार विद्यापति के प्रगीतों में खूब लोकप्रिय हुआ। चौदहवीं सदी की मैथिली की भाषिक संरचना तथा जयदेव की परंपरा में गेय पदावली के माधुर्य के कारण विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में ब्रजभाषा की सोलहवीं सदी वाली कृष्ण काव्यपरंपरा के प्रेरक और प्रवर्त्तक के रूप में जयदेव और विद्यापति की चर्चा की गयी है। उनकी स्थापना है कि कृष्णचरित के गान में भौतिककाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहायी उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया।

कृष्ण कथा की उक्त शृगांरिक परंपरा से हिन्दी भक्तिकाव्य का उदभव मानने पर डॉ बृजेश्वर वर्मा को आपत्ति है। उनका कहना है कि सोलहवीं शताब्दी का कृष्णभक्ति काव्य धार्मिकता और इहलौकिकता के संदिग्ध सम्मिलन से प्रारंभ नहीं हुआ। विद्यापति से उसने प्रेरणा नहीं ग्रहण की। उसका प्रणयन विशुद्ध धार्मिक वातावरण में, प्रायः सांप्रदायिक तत्वावधान में हुआ। उसका तात्कालिक मूल आधार प्रत्यक्षतः 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्णकथा है; यद्यपि हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य 'भागवत' या 'ब्रहमवैवर्त' आदि किसी भी पुराण में वर्णित कृष्णकथा की लीलाओं में बँधा नहीं है। उसने अपनी भावना की पोषक सामग्री लेने में पुराणों की अपेक्षा लोक-साहित्य से कहीं अधिक स्वच्छंदतापूर्वक सामग्री ग्रहण की है।

डॉ. मैनेजर पांडेय ने 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक अपनी पुस्तक में कृष्णकथा की परंपरा का विस्तृत विवेचन किया है। उत्तरी भारत के कृष्णकाव्य या सोलहवीं सदी के हिन्दी कृष्णकाव्य जैसे अमूर्त दृश्यफलक के बजाय शूरसेन प्रदेश या ब्रज प्रदेश के कृष्णभक्ति परंपरा के आरंभ की ठोस विवेचन करना उन्होंने आवश्यक समझा। इसलिए उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि वल्लभाचार्य ने ब्रजप्रदेश में कृष्णभक्ति को सुसंगठित और व्यवस्थित रूप में स्थापित किया।

हिन्दी भक्तिकाव्य में कृष्णभक्ति से संबंधित पुष्टि मार्गीय, गौड़ीय, राधावल्लभी और हरिदासी संप्रदायों के योगदान की चर्चा की जाती है। कृष्णाश्रयी भक्ति की अनेकानेक शाखा-प्रशाखा के आचार्यों और भक्त कवियों द्वारा रचित साहित्य परिमाण में विपुल है। अगर साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से निर्ममतापूर्वक चयन करना पड़े तो कहना पड़ेगा कि राधावल्लभी संप्रदाय के हरिवंश गोस्वामी की

पदावली. रागात्मक संवेदना और माधुर्य की दृष्टि से अवश्य ही उल्लेखनीय है। इनके साथ हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास, ध्रुवदास, हित वृन्दावनदास आदि की भी चर्चा की जाती है।

कृष्णभक्ति काव्य में नन्ददास, रसखान और मीरा के उल्लेखों से ही इस भावधारा को परिपूर्णता मिलती है। मीरा किसी संप्रदाय में शामिल नहीं हुई थीं। अत: उनकी भक्तिभावना पर निर्गुण संतमत और गिरिधर नागर के प्रति अनन्य प्रेम की दोहरी छाप दिखायी देती है।

सूरदास समेत सभी कृष्णभक्त कवियों का एक ही लक्ष्य था - रस, आनन्द और प्रेम की युगलमूर्ति राधाकृष्णा की लीला का गायन। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में कृष्णभक्ति शाखा के विवेचन के अंतर्गत यह मान्यता रखी गयी है कि कृष्णभक्ति परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौंदर्य का समुद्र है।

कृष्णाश्रयी काव्यधारा की कृतियों में लोकसंग्रह, लोक कल्याण और लोकचिंता के अभाव को आचार्य शुक्ल ने बार-बार रेखांकित किया है।

9.4.2 सगुण-निर्गुण द्वन्द्व में सूर की भूमिका

भक्ति आंदोलन के भीतर सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व बहुत ही तीखा हो गया था। सोलहवीं सदी में कृष्णभक्ति की नयी धारा के प्रसार के क्रम में भगवान की सगुण लीला का गान ब्रजप्रदेश में ही नहीं, भारत के अन्य अंचलों में भी लोकप्रिय होने लगा। भक्त कवि सूरदास कृष्ण के लीलामय सगुण रूप के अनन्य भक्त हो गये। वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया।

सूर का काव्य एक ओर जहां स्त्री-पुरूष संबंधों की स्वच्छंदता और उन्मुक्त प्रेमभावना का समर्थन करता है, वहीं उस जमाने के शास्त्रीय और दार्शनिक विवादों में भी हस्तक्षेप करता है। 'भ्रमरगीत' के उद्धव-गोपी संवाद में ज्ञान बनाम भक्ति, सगुण बनाम निर्गुण की बहस अपने प्रखर रूप में व्यक्त हुई है। इस तर्क-वितर्क, दार्शनिक ऊहापोह और वैचारिक टकराहट के भीतर अनेकानेक संदर्भ ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि सूरदास नाथपंथियों, सिद्धों और संतों की दलीलों का खंडन कर रहे हैं।। सैकड़ों ऐसे पद हैं जिनमें योग, ज्ञान और निर्गुण-निराकार ब्रह्म के अस्तित्व पर शंका व्यक्त की गई है, आपत्ति की गयी है और उनकी निस्सारता सिद्ध की गयी है। उद्धव-गोपी संवाद वस्तुत: निरगुनिया मत से सूर की मुठभेड़ का छाया-बिम्ब प्रतीत होता है। गोपियों की अश्रुपूरित, भावाकुल और करुण मनोदशा स्वयं में उद्धव को निरुत्तर करने, उन्हें चुप करने, खामोश करने की तार्किक क्षमता रखती है। पिछले पांच-छह सौ सालों से चले आ रहे वैचारिक द्वन्द्वों में सूरदास अवतारवाद का अनुमोदन करते हैं और कृष्ण की सगुण मूर्ति की उपासना के पक्षधर के रूप में सामने आते हैं।

उद्धव स्वयं ज्ञानमार्गी हैं और ब्रह्म की निर्गुण-निराकार सत्ता में विश्वास रखते हैं। कृष्ण उनके ज्ञान गर्व को चूर करना चाहते थे। इसलिए गोपियों के पास उद्धव को भेजते हैं। गोपियां निर्गुण की साधना कैसे कर सकती हैं, वे तो कृष्ण की सगुण लीला के रस और प्रेम में पगी हैं; कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद विरह-व्याकुल हो रही हैं। उद्धव द्वारा निर्गुण साधना, योग साधना, नाथपंथी वज्रयानी साधना का उपदेश सुनकर गोपियां पूछती हैं -

निर्गुण कौन देस को वासी?
मधुकर! हंसि समुझाय, सौंह दै बूझति सांच, न हांसी।।
को है जंनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसी केहि रस में अभिलासी?
पावैगो पुनि कियो आपना जो रे! कहैगो गांसी।
सुनत मौन है रहयो ठग्यो सौं सुर सवै मति नासी।।

गोपियां उद्धव से निर्गुण ब्रह्म का परिचय जानना चाहती हैं। यह निर्गुण ब्रह्म किस देश का वासी है? हे भौंरे (उद्धव), हमें अच्छी तरह से समझा दो। हम शपथ खाकर तुमसे सच्ची-सच्ची बात जानना चाहती हैं, कोई मज़ाक नहीं कर रही हैं - कोई हंसी नहीं उड़ाना चाहती हैं। हम वास्तव में जानना चाहती हैं कि उस निर्गुण का पिता कौन है? उसका रूप रंग तथा पहनावा कैसा है? वह किस रस के योग की अभिलाषा करता रहता है? गोपियां पूछती हैं - हमारा प्रेमी तो प्रेमरस में अनुरक्त है पर यह निराकार ब्रह्म किस रस की इच्छा रखता है? हे उद्धव, यदि तुमने इन बातों का गलत उत्तर दिया तो अपने किये का फल पाओगे। गोपियों की ये दलीलें सुनकर उद्धव ठगे से रह गये, मौन हो गये और उनकी बुद्धि पंगु-सी हो गई।

सूरदास गोपियों के माध्यम से निर्गुण मतवाद के खंडन में ब्रह्म चिंतन संबंधी दार्शनिक विवादों के अस्त्रागार से अपने तर्क नहीं लाते। गोपियां बार बार लौकिक जीवन की कसौटी पर परम सत्ता या उपास्य अलौकिक सत्ता की अवधारणा को परखती हैं। इस वाद–विवाद-से यह स्पष्ट है कि सूरदास लौकिक जगत के मानवीय संबंधों को दर्शन के केंद्र में रखते हैं, ब्रह्मचिंतन संबंधी अमूर्त्त और वायवीय अवधारणाओं से अपनी जीवन-दृष्टि को मुक्त रखना चाहते हैं। इस गोचर लौकिक जगत से परे कोई अलौकिक परम सत्ता है। उसे योग क्रियाओं के माध्यम से पाया जा सकता है - यह कल्पना गोपियों को सन्निपात के मरीज का प्रलाप प्रतीत होती हैं। गोपियां उद्धव से व्यंग्य करती हैं - आप बड़े सयाने हो-

> ऊधो! जानि परे सयान।
> नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान।।
> निगम तू नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान।
> नयन त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान।।
> पवन धरि रवि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
> सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि।।

हे उद्धव ! आप तो बड़े चतुर मालूम पड़ते हो। योग का उपदेश स्त्रियों को आप देने आये हैं। आप ज्ञान-साधना द्वारा जिस निर्गुण ब्रह्म को जानने की बात कहते हैं उसको तो वेद भी नहीं जान पाये। आप हमें उस ब्रह्म का उपदेश देते हो जिसकी प्राप्ति के लिए नेत्रों की त्रिकुटी की ओर योगी ध्यान लगाते हैं। वे प्रणायाम करके एकटक निर्निमिष दृष्टि से सूर्य की ओर देखते रहते हैं और अपने मन पर नियंत्रण रखते हैं पर ऐसी साधना हमसे संभव नहीं है चूंकि हमारा मन तो हमसे बिछुड़ कर कृष्ण के पास सिधार गया है। उस मन पर हमारा नियंत्रण कहाँ रहा?

गोपियां पूछती हैं - "रूप न रेख, बरन जाके नहिं'' उससे तुम प्रेम करने का उपदेश देते हो। पहले यह बताओ - "अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूं हो पावत।'' सूरदास का सबसे बड़ा तर्क प्रेम है जिसकी कोई लौकिक सत्ता नहीं, जिससे कोई रिश्ता कायम नहीं हो पाता, जिससे रोज़-रोज का जीवन-व्यवहार और लेनदेन नहीं है, उसके प्रति लगाव कैसे हो सकता है? उसकी भक्ति कैसे हो सकती है? जिससे कभी मिलना संभव नहीं है, उसके रूप, उसके व्यक्तित्व की धारणा ही नहीं हो पाती। इसके विपरीत जिससे संबंध बन जाता है और प्यार हो जाता है, उसके लिए अपने को उत्सर्ग करने की भावना सहज ही उत्पन्न हो जाती है :-

> ऊधो प्रीति न मरन बिचारै।
> प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै।।
> प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
> प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै।।
> प्रीति जात जैसे पय पानी जानि अनपपौ जारै।
> प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक ताबि तानि सर मारै।।
> प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपौ हारै?
> सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसु निरूवारै।।

IMDC-066

हे उद्धव! जब किसी से प्यार होता है तो प्यार करने वाला मृत्यु की परवाह नहीं करता। प्रेम के कारण पंतगा आग की लपटों में कूद पड़ता है और जल मरता है। जलते समय वह अपने अंगों को भस्मीभूत होने से बचाता नहीं। प्रेम के कारण कबूतर आकाश में ऊँचा से ऊँचा चढ़ता जाता है - और जब गिरने लगता है तो अपने को संभाल भी नहीं पाता। प्रेम के कारण ही भौंरा केतकी के फूल के अंदर बैठ जाता है और कांटों की चोट सहता रहता है। प्रीति के कारण ही पानी दूध में मिलकर आग के उबाल को सहता है और जल जाता है। वीणा की स्वर-लहरी से प्रीति के कारण एक स्थान पर बैठा हुआ हिरण शिकारी के बाण का शिकार हो जाता है। प्रीति के कारण ही माँ अपने बेटे के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाती हुई अपने स्वत्व को होम कर देती है। गोपियाँ कहती हैं - ऐसा ही हमारा प्रेम कृष्ण के प्रति है। इस प्रेम से अब छुटकारा कहां है?

'भ्रमरगीत' को सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी अंश माना जाता है। यह एक प्रकार का उपालंभ काव्य भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सगुण-निर्गुण विवाद में सूरदास के भ्रमरगीत पदों की विवेचना करते हुए इस मान्यता पर जोर देते हैं कि भक्ति शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से - हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्कपद्धति पर नहीं - किया है। सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से ले आये हैं जिससे संवाद में बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस सगुण-निर्गुण विवाद में सूरदास और तुलसीदास को एक तरफ रखते हैं और दूसरी तरफ नाथपंथियों, सिद्धों और संतों को रखते हैं। सवर्ण हिन्दू समाज के पंडितों - पुरोहितों पर व्यंग्योक्तियों के बाण बरसाने वाले नाथों, सिद्धों और संतों के प्रसंग में आचार्य मिश्र जी कहते हैं - ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ा जिस पर चलकर अनपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टेढ़ेमेढ़े अभ्यासों को ही सबकुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुँहजोरी करने लगे। अज्ञान से जिनकी आँखें बंद थीं वे ज्ञान चक्षुओं को आँख दिखाने लगे।

आचार्य मिश्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ज्ञानमार्गी धारा "लोकविरोधी धारा" थी। वे यह भी मानते हैं कि यह तत्कालीन उद्वेगजनक प्रवृत्ति ही थी जिसका उच्छेद करने के लिए सूर ने 'सागर' की ये उत्ताल तरंगें लहरायीं।

ज्ञानयोग के प्रतिपक्ष में साकार उपास्य देव के लिए प्रेमभक्ति की भावना सूर के काव्य में निर्विवाद रूप से उपस्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं है। सूर ने सगुण-निर्गुण के विवाद में ज्ञान या योगमार्ग को संकीर्ण, कठिन तथा नीरस बताया तथा भक्तिमार्ग को विशाल राजपथ जैसा सरल और सरस माना है। विश्व की रूपविभूति और जीवनलीलाओं में मन को रमाने का जैसा अवसर भक्ति भावना के माध्यम से मिलता है, वैसा अंत:साधना के चक्करदार, रहस्यमय और गुह्य पथ से मिलना संभव नहीं है। सूर की यही तर्क पद्धति है जो भोलीभाली गोपियों के संवाद के माध्यम से रसभरी भक्ति की रमणीयता से सराबोर है। सगुण-निर्गुण विवाद की यह द्वन्द्वात्मकता ही भ्रमरगीत प्रसंग का प्राण है।

गोपियों की प्रेममग्न तन्मयता, विह्वलता और भावना में पगी तर्कशीलता के आगे अंतत: उद्धव हार मान जाते हैं। उद्धव जब लौटकर मथुरा आते हैं और श्री कृष्ण को अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाते हैं तो एक तरह से अपनी पराजय मान लेते हैं -

माधव जू! मैं अति सचु पायो।
अपने जानि संदेस-ब्याज करि ब्रजनन मिलन पठायो।
छमा करौ तौ करौं बीनती जो उत देखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञानपंथ जो उचरयो तिन पै कछु न सुहायो।।
सकल निगम सिद्धान्त जन्म-स्रम स्यामा सहज सुनायो।
नहिं स्रुति, सेष, महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायो।।
कटुक कथा लागी मोहिं अपनी, वा रस-सिंधु समायो।

NMDC-066

उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि बुझायो।
तुम्हरी अकथ-कथा तुम जानो हम जन नाहिं बसायो।
सूरदास सुंदर पद निरखत नयनन नीर बहायो।।

हे कृष्ण! माधव जी! मैंने ब्रज में जाकर सचमुच अति सुख प्राप्त किया - गोपियों के संसर्ग से मुझे अपार सुख मिला। आपने ज्ञान-संदेश देने के बहाने मुझे ब्रज के लोगों से मिलने भेजा था। यदि आप क्षमा करें तो मैं विनती करके उन सब बातों का वर्णन करना चाहता हूँ जिन्हें मैं वहाँ देखकर आया हूँ। आपने अपने श्रीमुख से जिस ज्ञानपंथ का उच्चार किया था, वह उन्हें जरा भी नहीं सुहाया। जन्मभर के परिश्रम के बाद जो वैदिक सिद्धांत का ज्ञान होता है, उसे तो श्यामा (राधा) ने सहज ही सुना दिया। जिस रस का गान गोपियों ने किया है, वह वेद, शेषनाग, शिव और ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं है। उनके सामने मुझे अपना ज्ञानमार्गी उपदेश कड़वी कथा समान लगा और मैं स्वयं ही उनके प्रेमरस के सागर में समा गया। मैंने उधर ब्रज में आपका ही रूप सर्वत्र देखा और मेरी आपके विषय में सारी तृषा - सारी जिज्ञासा शांत हो गयी। आपकी कथा वस्तुत: अकथनीय - अनिर्वचनीय सी है; उसे आप ही जान सकते हैं। हम जैसे लोग उसे जान नहीं सकेंगे। इस तरह उद्धव ने अपना वृत्तान्त सुनाने के बाद श्री कृष्ण के सुन्दर चरणों को निहारा और अपने सौभाग्य पर अपने ही नेत्रों से हर्ष से भरे आँसू बहाये।

सगुण-निर्गुण विवाद में उद्धव का यह चित्र प्रस्तुत कर सूरदास मानवीय संवेदना का एक भाव-विह्वल परिणाम दिखलाते हैं कि किस तरह गोपियों के आगे उद्धव हार कर लौटे हैं।

9.5 सूर काव्य में प्रेमाभक्ति

प्रेमाभक्ति, पुष्टिभक्ति, रागानुगा भक्ति या रागात्मिका भक्ति - ये सभी पारिभाषिक पद एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। सूर की भक्ति पद्धति को परिभाषित करने के लिए प्राय: इसी पद या शब्दावली का उपयोग किया जाता है।

वल्लभाचार्य के संप्रदाय का नाम पुष्टिमार्ग था। सूरदास को इस संप्रदाय की दीक्षा स्वयं वल्लभाचार्य ने दी थी। भगवान के अनुग्रह या भगवत कृपा के रूप में पुष्टि की व्याख्या की गई है। वल्लभाचार्य ने प्रवाह मार्ग, मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग - इन तीनो मार्गों में पुष्टिमार्ग को श्रेष्ठ बताया था। वल्लभ मत में प्रवाह मार्ग का अर्थ है दुनियादारी और सांसारिकता के भवचक्र में फंसे रहना; मर्यादामार्ग का अर्थ है वैदिक जीवन प्रणाली का अनुसरण और पुष्टिमार्ग का अर्थ है आत्मसमर्पण युक्त रसात्मक प्रेम के द्वारा भगवान की आनन्दलीला में लीन रहना। इस तरह पुष्टिमार्ग का जो भी अनुयायी होता है उसके लिए भगवान लीला पुरूषोत्तम हैं। भक्त अपनी प्रेमाभक्ति के लिए भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करता है।

वल्लभ-मत के अंतर्गत यह मान्यता प्रचलित है कि जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान अवतार ग्रहण करते हैं। उनके अवतार का प्रयोजन लीला करना है। यह लीला आकस्मिक घटना नहीं बल्कि भगवान की नित्य लीला है। चूंकि भक्त की भक्ति भावना भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करती है - अत: यह वैष्णवों की नवधा भक्ति से भिन्न है और इसकी भिन्नता स्थापित करने के लिए ही इसका नामकरण पुष्टिभक्ति के रूप में किया गया है। भक्ति की इस पद्धति में भजन-पूजन नहीं होता - बल्कि भगवान की लीला के प्रति रागात्मक लगाव होता है, गहरी अनुरक्ति होती है और सच्ची प्रेमभावना होती है। अत: इस लगाव, अनुरक्ति और सच्ची प्रेम भावना की व्यंजना करने के लिए भक्ति की इस पद्धति को रागानुगए प्रेमलक्षणा या प्रेमाभक्ति का नाम दे दिया गया है।

पुष्टिमार्ग में भगवान के रूप में श्रीकृष्ण के परमानंद रूप की आराधना या उपासना की व्यवस्था की गई है। श्रीकृष्ण सौंदर्य, आनन्द और रस के आगार हैं। वेश-विन्यास, गृह-प्रसाधन, पाक-कला, संगीत और काव्य - सबको पुष्टिमार्ग में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। दरअसल पुष्टि मार्गीय भक्ति गृहस्थ धर्म का निर्वाह करने वाले जन-साधारण की प्रवृत्तिमार्गी उपासना पद्धति के रूप में विकसित हुई थी। सांसारिक

HMDC-066

आकर्षणों का निषेध करने वाला यह भक्तिमार्ग नहीं था। इसीलिए लौकिक मानवीय संबंधों के परिप्रेक्ष्य में सूर की प्रेमाभक्ति का भावसौंदर्य अच्छी तरह पुष्पित-पल्लवित हो सका था।

पुष्टिमार्गी भक्ति संप्रदाय के भीतर गृहत्यागी साधुओं की कोई व्यवस्था नहीं है। इस उपासना मार्ग के अंदर कोई कर्मकांड भी स्वीकार नहीं किया गया है। वस्तुतः इस भक्तिमार्ग में त्याग को कोई स्थान प्राप्त नहीं है; समर्पण ही सब कुछ माना गया है। सूरदास के काव्य को पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों की यांत्रिक परिणति या काव्यानुवाद के रूप में देखने की प्रवृत्ति पर अनेक समीक्षकों ने अपनी आपत्ति दर्ज करायी है। सूर के काव्य में जिस प्रेमाभक्ति की भावधारा मिलती है, उसे सांप्रदायिक अर्थों में खांटी पुष्टिमार्गीय सिद्ध करना एक दुःसाध्य कार्य है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा इस प्रसंग से संबंधित विवादों में हस्तक्षेप कर यह बता चुके हैं कि सूरसागर में शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि वे शंकर अद्वैत के विरोधी थे और अद्वैतवाद के उस संशोधित रूप के समर्थक थे जिसमें भक्त और भगवान तथा भक्ति के साधन - उपकरणों की पृथक स्वीकृति भी संभव हो सके। उसे शुद्धाद्वैत कहें या द्वैताद्वैत कदाचित इस विषय में सूरदास विशेष चिंतित नहीं थे।

सूरदास के उपास्य श्रीकृष्ण हैं जिनके प्रति गहरा अनुराग और प्रेमपूर्ण भावावेग व्यक्त करने के लिए उनके रूप, व्यक्तित्व, परिवेश, क्रियाकलाप, लीलामय स्वरूप आदि का चित्रण सहज मानवीय संबंधों के गतिमान संदर्भों के बीच से किया गया है। अपनी इस काव्य-कला की अनूठी प्रतिभा के स्फुरण के लिए वे पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों की तोतारटंत शब्दावली पर निर्भर नहीं करते। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में यह ब्रजवासियों के श्रीकृष्ण संबंधी रस में भरा हुआ सागर ही सूरसागर है। ब्रज के समस्त जीवन का सार-रस --माता के हृदय का रस, पिता के सुख का रस, सखाओं के सहवास का रस, प्रियतमा गोपियों के संयोग-वियोग का रस जो संपूर्ण कृष्णमय रस है यही सूरसागर है।

रागानुगा भक्ति का पुष्टिभक्ति या विशिष्टता का विवेचन डॉ. मुंशीराम शर्मा ने अपने शोधग्रंथ 'महाकवि सूरदास : एक अध्ययन' नामक पुस्तक में किया है। वस्तुतः सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादाओं में यह प्रेमाभक्ति बंधी हुई नहीं होती। उल्लिखित पुस्तक के अंतर्गत "मर्यादाभंग और स्वच्छंद प्रेम" नामक एक उपखंड है जिसमें बतलाया गया है कि सूर की रागानुगा भक्ति की कल्लोलिनी धारा मर्यादा के तटबंध को तोड़ती-फोड़ती हुई उद्दाम वेग से बढ़ती जाती है। डॉ. मुशीराम शर्मा के शब्दों में सूर की गोपियाँ इतनी स्वच्छंद हो जाती हैं कि वे कृष्ण के हाथ से मुरली छीन कर बजाने लगती हैं। कृष्ण का मुकुट खुद अपने सिर पर धारण कर लेती हैं और कृष्ण को अपना शीश फूल पहना देती हैं। उनके वस्त्र स्वयं पहन लेती हैं और स्वयं ही कृष्ण बन जाती हैं, जबकि कृष्ण को अपना वस्त्र पहनाकर उन्हें राधा बना देती हैं। कृष्ण राधा के रूप में मान मनुहार कर बैठ गये और गोपियाँ कृष्ण बनकर उनकी मनुहार करने लगीं। पुष्टिमार्गीय भक्ति के निरूपण में मर्यादा भंग, वस्त्रों के क्रमभंग, आभूषणों के धारण में स्थान भंग जैसी स्वच्छंद नाट्यभंगिमाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने में सूरदास अद्वितीय हैं। इस प्रकार के वर्णन वस्तुतः रागानुगा भक्ति के निरूपण के अंतर्गत लीला-चित्र माने जाने चाहिए। रास लीला, होली लीला, जलक्रीड़ा आदि में भी इसी प्रकार के स्वच्छंद संबंध के वर्णन अनेक स्थलों पर रेखांकित किये जा सकते हैं। राधा कृष्ण से हठ करती हैं कि वह उसे अपने कंधों पर बिठायें। लौकिकता के आश्रय में ही प्रेम दिव्य आभा ग्रहण कर आलोकित हो जाता है।

सूरसागर में इस प्रेमलक्षणा भक्ति का सांगोपांग चित्रण हुआ है- कहना चाहिए कि प्रेम के प्रारंभ, विकास और उसकी चरम परिणति - सभी भावदशाओं के चित्रों से सूरकाव्य भरा पड़ा है। रागानुगा भक्ति को प्रेम की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'भक्ति रसामृत सिंधु' नामक श्री रूपगोस्वामी के भक्तिशास्त्र संबंधी ग्रंथ में रागानुगा भक्ति को अंतिम सीढ़ी माना गया है। कृष्ण के प्रति राधा या गोपियों का प्रेम इस कोटि का है। 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक डॉ. मैनेजर पांडेय के शोधग्रंथ में सूरदास की भक्तिभावना का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उनकी मान्यता है कि माधुर्यभाव की मधुर भक्ति रागात्मिक भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। इस मधुर शक्ति का स्थायी भाव माधुर्य, कांता रति या मधु रति है। इस माधुर्य भाव की भक्ति का चरम रूप राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण के स्वच्छंद प्रेम संबंध में व्यक्त हुआ है। सूरसागर में स्त्री-पुरूष संबंधों के बीच सामाजिक

HMDC-066

मर्यादाओं के बंधन से बंधा हुआ संस्कार कहीं भी परिलक्षित नहीं होता बल्कि स्वकीया-परकीया की नायक-नायिक भेद वाली शास्त्रीय दृष्टि से मुक्त यह प्रेमाभक्ति है। मैनेजर पांडेय ने ठीक ही कहा है कि राधा और कृष्ण परम चैतन्य के ही दो रूप हैं। उनका प्रेम पुरातन है। वे सनातन हैं और उनका यह लौकिक रूप लीलारूप है। उनकी गुप्त लीला शाश्वत है, प्रेम शाश्वत है, लेकिन इस प्रकट लीला में लोकलाज एवं कुलकानि की चिंता है। रासलीला में राधा नायिका हैं। वे रास के मध्य विराजमान हैं। कृष्ण जगनायक हैं और राधा जगदीश प्रिया, जगतजननी और जगत रानी है। वृंदावन में राधाकृष्ण का विहार नित्य है। रासलीला में राधा स्वकीया है। वे दोनों मूर्तिमान राग-रागिनी हैं। रासलीला में राधा जीव है और सभी गोपियां देह। राधा गोपियों की आत्मा है। रासलीला के पश्चात ग्रीष्म लीला, युगल समागम, मान लीला, दम्पति विहार, खंडिता प्रकरण, झूलन और वसंतोत्सव के सहारे राधा कृष्ण की प्रेमलीला चलती है।"

यह उल्लेखनीय है कि प्रेमाभक्ति सिर्फ संयोगावस्था में ही नहीं होती। वियोग के क्षणों में भी प्रेमी की स्मृति सताती रहती है और आंखों में प्रेमी का नित्य लीला स्वरूप जगमगाता रहता है। डॉ. पांडेय तो विरह दशा में ही प्रेमाभक्ति की तन्मयता का उत्कर्ष मानते हैं। उनके अनुसार सूरदास ने सिद्धांत रूप में भी प्रेम में विरह की दशा की आवश्यकता पर बल दिया है। वियोग प्रेम की सिद्धावस्था है। वह चित्त की समाधि अवस्था है जहाँ तन्मयता, तद्रूपता और तल्लीनता का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

9.6 सूरदास की भाषा और रूप विधान

सूरदास भी भक्तिकाल के समानधर्मा कृतिकारों की तरह ही 'भाखा' के कवि थे। उन्होंने स्वयं अपनी रचनाएँ लिखी नहीं थीं। उनकी विनम्र आत्मस्वीकृति है कि भागवत के द्वादस स्कंधों को उन्होंने भाखा के पदों में गाकर कहा है - सूरदास सोई कहे, पद भाखा करि गाइ।। - यह बहुत ही महत्वपूर्ण उक्ति है।

तेरहवीं सदी के बाद से लगातार आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के प्रमाण मिलते हैं। ब्रजभाषा भी हिन्दी क्षेत्र की एक आधुनिक भारतीय भाषा है। सूरदास अपने पदों की रचना इसी जनभाषा में करने लगे, इन पदों को गाकर सुनाने लगे - ये पद संगीत के सुरों में ढले हुए थे। धीरेन्द्र वर्मा यह मानते हैं कि ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है, जब ब्रजप्रदेश में गौड़ीय वैष्णव और वल्लभ संप्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग के केन्द्र स्थापित हुए। सूरदास साहित्यिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे। उनके उपरांत हिन्दी प्रदेश के लगभग समस्त कृष्णभक्त कवियों ने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही लिखीं, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा हिन्दी प्रदेश की प्रमुख साहित्यिक भाषा बन गयी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का हिन्दी रीति साहित्य भी ब्रजभाषा में ही लिखा गया। यह भक्तिकाल की ब्रजभाषा का अधिक परिमार्जित और साहित्यिक रूप है तथा इस पर पूर्वी ब्रज (कन्नौजी) का प्रभाव कुछ अधिक मिलता है।

ब्रजभाषा में रची गई सूरदास की पदावली पर विचार करते समय सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इस बात की ओर ध्यान गया कि इतनी "परिष्कृत और परिमार्जित भाषा" के पीछे कोई काव्यपरंपरा अवश्य ही होनी चाहिए । उनकी टिप्पणी थी सूरसागर की रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य परंपरा का - चाहे वह मौखिक ही रही है - पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की टिप्पणियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा में काव्य-परंपरा का सूत्रपात सूरदास ने ही किया था। उनके पहले के किसी भी ब्रजभाषा कवि की कोई उल्लेखनीय कृति का उल्लेख तक नहीं मिलता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शोधग्रंथ 'सूरपूर्व ब्रजभाषा' में भी ऐसी किसी उल्लेखनीय कृति का प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि सूरदास के पहले

NMDC-066

ब्रजभाषा की साहित्यिक परंपरा का अस्तित्व था और सूरदास ने उस परंपरा से सीख कर अपनी भाषा और काव्य शैली का परिष्कार किया था। डॉ. मैनेजर पांडेय के सूरदास संबंधी शोधग्रंथ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उनकी मान्यता है कि सूरदास कवियों के कवि इसलिए भी हैं कि उन्होंने ब्रजभाषा काव्य की जो परंपरा निर्मित की, वह बाद के लगभग चार सौ वर्षों तक चलती रही। सूर को समाज और साहित्य से जो ब्रजभाषा मिली थी उसे पहले से अधिक विकसित, परिष्कृत और अभिव्यंजक बनाकर उन्होंने बाद के कवियों को सौंपा।

सूरदास का काव्य ब्रज प्रदेश की लोक संस्कृति और उसकी वाचिक परम्परा से प्राण शक्ति खींचकर पला, बढ़ा और परिष्कृत हुआ था। सूरसागर के पद संगीत की स्वरलहरी की आवश्यकताओं के अनुसार ढले और रचे गये प्रतीत होते हैं। श्रोतामंडली को सुनाने के लिए ये पद कहे और गाये गये थे। लिखित पाठ के रूप में इनका सृजन न होना यह बतलाता है कि श्रुतिमधुर शब्दमैत्री, सुर और ताल के आग्रह और लोक कंठ की धुनों के प्रचलित रूपों से इन पदों की गेयता काव्यबंध और छंद का गहरा रिश्ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस प्रसंग से संबधित उक्ति अविस्मरणीय है कि आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्री कृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। सूरसागर के पदों की ब्रजभाषा का प्रगीतात्मक स्वरप्रवाह भक्तिकालीन काव्यसृजन की प्रक्रिया में संगीत के निर्णायक अनुरोध और अनुशासन का महत्व भी दरसाता है। आज भी बड़े से बड़े गायक ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली के ही भजन या पद गाते हैं। इस तथ्य से यह संकेत मिलता है कि मध्यकाल की वाचिक परंपरा का संगीत से अविच्छिन्न संबंध था।

सूरदास के पदों में लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत - दोनों की राग-रागिनियाँ उपलब्ध होती हैं। डॉ. मनमोहन गौतम का अनुमान है कि श्रीनाथ जी के मंदिर में गाये जाने वाले कीर्तन की रचनाओं को सुनने वाले दोनों प्रकार के श्रोतासमूह वहाँ मौजूद होते थे। अत: "जैसा समुदाय होता था, उसी के अनुरूप सूरदास जी भजन गाते थे।

9.6.1 सूर की काव्य भाषा

सूरकाव्य की सर्जनात्मक बनावट और कलात्मकता के निर्माण में भाषासौष्ठव का अपूर्व योगदान है। समग्र काव्यार्थ की निर्मिति में काव्यभाषा एक संश्लिष्ट उपादान की तरह होती है। सूरसागर की काव्यभाषा के सौंदर्य, नाद तत्व और व्यंजकता को देखकर आचार्य रामचंद्र को आश्चर्य हुआ था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो दीर्घ काल से चली आ रही किसी मौखिक काव्य-परंपरा में सूरदास दीक्षित हुए हों। उनकी उक्ति अविस्मरणीय है-

ध्यान देने की बात है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण, कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ उनकी जूठी जान पड़ती है।

ब्रजक्षेत्र की जनपदीय बोली किस तरह एक विकसित काव्यभाषा का रूप ग्रहण करती है, यह एक अलग समस्या है, जिसपर भाषाशास्त्र के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। यहाँ सूरदास के प्रसंग में पहली बात ध्यान देने की यह है कि सूर की काव्यभाषा ब्रजक्षेत्र की रोजमर्रा की बोलीबानी से अलग नहीं है। पहले से चली आती हुई मौखिक गीत-परंपरा और ब्रज क्षेत्र की दिनचर्या की ठोस संवादमयता - इन दोनों को एक अंधे कीर्तनकार ने किस तरह अंत: गुम्फित किया, किस तरह उसे अर्थव्यंजना की दृष्टि से परिष्कृत किया और हजारों पदों की रचना कर पंद्रहवी-सोलहवीं सदी में संस्कृति के उच्चतर आसन पर ब्रजभाषा को प्रतिष्ठित कर दिया - इन सभी पहलुओं का विद्वानों ने बार-बार उल्लेख किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूर की काव्यभाषा का अपूर्व सामर्थ्य बतलाते हुए मूलत: दो कसौटियो को निर्णायक मानते हैं - (क) शब्दों की मितव्ययिता तथा (ख) चित्रमयता। इन दोनों ही कसौटियों पर

NMDC-066

सूरकाव्य की परख करते हुए वे कहते हैं - सूरदास में ये दोनों गुण हैं। दूसरे गुण में तो सूरदास की समता संसार के कुछ ही कवि कर सकते हैं।

सूर के पदों का काव्योत्कर्ष मूलत: वक्रोक्ति, श्लेष, व्यंग्यार्थ और माधुर्य गुण से संपन्न शब्दमैत्री पर निर्भर करता है। कला की दृष्टि से इतनी समृद्ध काव्यभाषा बोलचाल और दैनंदिन बातचीत की नाटकीयता के बिना संभव ही नहीं हो पाती। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, अर्थान्तिरन्यास आदि अलंकार सूर की काव्यभाषा में सहज ही उमड़े चले आते हैं। चूँकि ऐंद्रिक चित्रों की रचना में वे अपूर्व कलाकौशल का परिचय देते हैं, अत: सूरसागर की पदावली चित्रमयता से जगमग करती रहती है। साधर्म्यमूलक अलंकार सूर की सम्मूर्त्तन कला के उपादान बनकर आते हैं। मानव आचरण, विश्वसृष्टि और ब्रज की ग्रामीण प्रकृति से सूरदास अपने उपमान चुनते हैं। ये उपमान कृतिकार के अभिप्रेत कथ्य और उसकी काव्यवस्तु को श्रोता या पाठक के सम्मुख ऐंद्रिक रूप में प्रस्तुत देते हैं। सूरदास इस कला के उस्ताद माने जाते हैं।

तोक्यो विश्वविद्यालय, जापान के एक विद्वान प्रोफेसर तकुशोकू ने सूरसागर की काव्यभाषा के अनुशीलन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है - सूरसागर के अंदर साहित्यिक भाषा संस्कृत और लोकभाषा ब्रज के बीच विशेष विरोध का न होना या, दूसरे शब्दों में, दोनों का समन्वय होना नीचे दी हुई प्रक्रियाओं से संभव हुआ होगा।

(1) संस्कृत शब्दों को ग्रहण करने में सूरदास ने ऐसे शब्दों को प्राथमिकता दी जिनकी ध्वनि-व्यवस्था ब्रजभाषा की दृष्टि से सरल हो। अत: जहां तक इस वर्ग के शब्दों का संबंध है गृहीत संस्कृत तत्सम शब्द और ब्रजभाषा में कम अंतर आया है।
(2) जब सूरदास जटिल ध्वनि व्यवस्था वाले संस्कृत शब्द ग्रहण करने को बाध्य हुए तो उन्होंने उन शब्दों को ब्रजभाषा के गठन के अनुरूप बदल दिया।

व्यंजन-गुच्छ युक्त तत्सम शब्द 'दुग्ध', 'हृदय', 'कृष्ण' आदि के बजाय दूध, हिय, कान्ह, कन्हैया, वगैरह के प्रयोग ही सूरदास को भाते हैं। नँद, आँखि, नहिं, भई, कुंवर, क्यों, मोकों जैसे प्रयोगों से स्पष्ट है कि सूर की भाषा में ध्वनिव्यवस्था की दृष्टि से आनुनासिकता की ही भरमार है। ब्रजभाषा के सभी व्यंजन सूर के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं - उदाहरण के लिए 'य' के स्थान पर 'ज', 'व' के स्थान पर 'ब', 'श' के स्थान पर 'स'।

सूरकाव्य में अरबी-फारसी की शब्दावली भरी पड़ी है। ब्रजभाषा ने इस शब्दावली को पचा लिया है; जैसे - अबीर, अमीर, खसम, जबाब, मुसाहिब, अकल, खबर, खरच, खवास, गुलाम, जमानत, जहाज, तलफ, दगा, सन्दूक, महल, फौज, जौहर, गुमान, दस्तक, सरदार, दीवान, मेहमान आदि।

क्रियाव्यापार की अभिव्यक्ति में सूर ने ब्रजक्षेत्र की रोजाना बोलचाल में रचे बसे ध्वन्यात्मक शब्दों का सार्थक उपयोग किया है - अरबराइ, कलमलात, किलकना, गहगहात, घहरानि, चटचटात, झुनझुन, धकधक, झपतार, झमकत, झमकिन आदि सैकड़ों शब्द सहज ही मिल जाते हैं। 'सूरदास' नाम से डॉ. हरबंस लाल शर्मा ने जिस पुस्तक का संपादन किया है, उसमें डॉ. कैलास चंद्र भाटिया का निबंध संकलित है। इस निबंध में सूर की भाषा पर विस्तार से विचार किया है। डॉ. भाटिया से भिन्न स्तर पर डॉ. मैनेजेर पांडेय का विश्लेषण खास तौर पर उल्लेखनीय और पठनीय है। सूरदास पर लिखित अपनी पुस्तक में उन्होंने सूर की अभिव्यक्ति के स्वरूप की छानबीन करते हुए भाषा के बारे में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। कलात्मक स्तर पर सौंदर्यानुभूति की दृष्टि में सूर की काव्य भाषा की विशेषता पर उनकी टिप्पणी है- सूरदास रूपकप्रधान चिंतन के सहारे ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं और बिम्ब, प्रतीक, अन्योक्ति आदि की रचना भी करते हैं। इस पद्धति से काव्यभाषा में वाग्विदग्धता, उपचारवक्रता और अभिव्यक्ति के सौंदर्य का विकास हुआ है।''

छंद

सूरसागर के पदों में जहाँ भी वर्णन या कथा की प्रमुखता है, वहाँ दोहा, रोला अथवा रोला-दोहा का मिश्रित रूप तो मिलता ही है, दोहा-चौपाई के मिश्रण से निर्मित नवीन छंद रूपों का भी प्रयोग मिलता है। प्रगीतात्मकता अथवा गेयता के अनुरोध से छंदों के मिश्रित अथवा नये रूप उपयोग में लाये गये हैं।

HMDC-066

जहाँ नाटकीय उतार-चढ़ाव वाले घटनाप्रसंग हैं, उदाहरण के लिए दानलीला आदि में, वहाँ रोला-दोहा का मिश्रित छंद मिलता है। पदरचना के अंत में दस मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर गेय पद को और भी मनोहर बना दिया गया है।

सूरदास ने दोहा और चौपाई छंदों में भावप्रवाह की रक्षा के लिए दोहा-चौपाई छंदों में भी जगह-जगह नये ढंग से परिवर्तन किये हैं। उदाहरण के लिए फाग और होली के वर्णनों में ब्रज लोकगीत और संगीत का सम्मोहक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अनेक स्थलों पर मात्राओं में परिवर्तन किये गये हैं। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि कदाचित सूरदास ने ही सबसे पहले चौपाई की दो अर्धालियों के बाद 13 मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर एक त्रिपदी छंद का प्रयोग किया था। बाद में सूर के प्रयोगों की प्रभावोत्पादकता और मनोहारिता को देखकर राधा वल्लभ संप्रदाय के कवियों में खासकर सेवक जी, हरिराम व्यास, चतुर्भुज दास आदि ने इसका खूब प्रयोग किया।

दोहा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी का जातीय छंद मानते हैं। कृष्ण-काव्य परंपरा में इस छंद का अत्याधिक उपयोग सबसे पहले सूरदास ने ही किया था। सूरसागर में अनेक पद ऐसे हैं जिनमें सूक्तियों के रूप में मार्मिक वक्तव्य दोहा छंद में ही प्रस्तुत किया गया है। दोहे के कलात्मक उपयोग के प्रमाण के रूप में 'सूर पच्चीसी' की चर्चा की जाती है, चूंकि ये पच्चीसों दोहे अपने आप में एक स्वतंत्र काव्यखंड भी हैं और इसके एक-एक दोहे पृथक-पृथक भी अपनी सार्थकता रखते हैं।

सूरसागर में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, हरिगीतिका, अरिल्ल आदि का भी अनेक स्थलों पर कथा, भाव या संगीत के अनुरोध से उपयोग किया गया है।

सूरसागर में छंदों की विविधता है। गीतिकाव्य में नयी उद्‌भावनाओं के अनुसार छंदों के नये-नये प्रयोग कृष्णभक्त कवियों ने ही किये थे। सूरदास इस परंपरा के सूत्रधार और प्रवर्त्तक थे।

9.6.2 सूर काव्य का रूप विधान

सूरसागर अथवा महाकवि सूरदास के काव्य का रूपविधान क्या गीतिकाव्य जैसा है या प्रबंधकाव्य जैसा? अथवा इसमें दोनों का सह-अस्तित्व है? आभ्यंतरिक अभिव्यंजना और कथावाचन की शैली में वर्णनात्मकता – इन दोनों के जटिल संयोजन से सूरसागर की पदावलियाँ रूपविधान के विश्लेषण की दृष्टि से समालोचकों के लिए अभी भी गुत्थी बनी हुई हैं।

रामायण, महाभारत आदि की तरह अथवा रामचरितमानस के समान सूरसागर का कथानक सुसंगठित और सुसम्बद्ध नहीं है। महाकाव्य में कोई एक कथा होती है, उसका नायक होता है और घटनाओं का कम विकास होता है। अगर इस दृष्टि से देखें तो सूरसागर में भी एक कथा है, उसका नायक है और घटनाओं का आरोह-अवरोह भी है। पर मात्र इतनी समानता से सूरसागर को क्या हम महाकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं? नहीं, इसे हम महाकाव्य नहीं मान सकते। हिन्दी समालोचना में अभी तक किसी ने भी इसे प्रबंधकाव्य या महाकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसके पीछे मुख्य कारण है सूरसागर के कथानक की विश्रृंखलता। पर इस विश्रृंखलता के बावजूद इसमें कथाकृति का आस्वाद और उसकी सरसता आदि से अंत तक है। इसमें कथा का नियोजन सर्गबद्ध नहीं है; इसकी कथा कांडों में भी विभाजित नहीं है। इसकी कथा का ढाँचा पुराणों में निबद्ध संरचना का अनुसरण करता है – अर्थात् श्रीमद्‌भागवत के समान इसकी कथायोजना भी बारह स्कंधों में बँटी हुई है। ऊपर से देखने पर बारह स्कंध तो हैं, पर वास्तविकता में इसकी कथासंरचना लीलाप्रसंग का अनुसरण करती है। डॉ. मैनेजर पांडेय की दृष्टि में लीलाक्रम के अनुसार सूरसागर को सात भागों में बाँटा जा सकता है – (1) विनय के पद, (2) बाललीला, (3) वृन्दावन लीला, (4) माधुर्य लीला (अनुराग, चीरहरण, पनघटलीला, दानलीला, रासलीला और विरह लीला), (5) मथुरा लीला (6) द्वारिका लीला और (7) अवतार लीला। सूरसागर में कथारस का अव्याहत प्रवाह उसके कथानक की एकात्मकता का प्रमाण है। "अव्यावहत कथारस'' और "प्रगीतात्मकता'' – दोनों की उपस्थिति के कारण कुछ समीक्षक इसे "गीतात्मक महाकाव्य'' की संज्ञा देते हैं। ऐसे समीक्षकों में उल्लिखित डॉ. मैनेजर पांडेय भी हैं। उनकी मान्यता है कि इसका महाकाव्यत्व इसके आकार में कम, इसकी आत्मा के रूप में अधिक है। अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण सूरसागर एक नये प्रकार का महाकाव्य है। यह साहित्य की शास्त्रीय परंपरा से स्वतंत्र लोकगीतों का संरचना के अनुसार रचित गीतात्मक महाकाव्य है।

9.6.3 सूर काव्य में प्रगीतात्मकता

सूरदास की ख्याति मुक्तक रचनाकार के साथ-साथ गीतकार के रूप में भी रही है। यह माना जाता है कि सूर के अधिकांश पद प्रगीतात्मक अर्थात लिरिकल हैं। अंग्रेजी में काव्य के रूपविधान के विविध प्रकारों में लिरिक को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। रोमांटिक काव्यांदोलन के पहले भी अंग्रेजी में लिरिक या प्रगीत की रचना की गई थी, पर रोमांटिक कवियों द्वारा लिखित गीतों की कलात्मक विवेचना के बाद इसकी महत्ता क्रमशः बढ़ती गई है। हिन्दी के छायावादी काव्य की समालोचना के क्रम में प्रगीतात्मकता, आत्मपरकता और गेयता – इन तीनों काव्य-तत्वों की अक्सर चर्चा सुनायी पड़ती है। मध्यकाल के भक्तिगीतों, भजनों और कीर्तनों के कला-रूपों की पहचान की कोशिश में गीत या प्रगीत के रूपबंध की छानबीन की गई है और यह माना जाने लगा है कि सूर के अधिकांश पदों में गीतात्मकता है। ये गाये जाने के लिए रचे गये थे। इनमें भावानुभूति की गहरी आंतरिकता है।

दरअसल काव्य-बंध या रूपविधान का कोई सार्वकालिक, सार्वभौम, शाश्वत और सनातन स्वरूप नहीं होता है। हिन्दी में गीत जैसी काव्य-विधा अलग-अलग समय के विशिष्ट साहित्यिक-सामाजिक संदर्भों में अपना स्वरूप बदलती रही है। अन्य भाषाओं और बोलियों की लिखित या वाचिक परंपराओं से आदान-प्रदान के क्रम में भी गीत नामक इस कला-विधा ने भिन्न-भिन्न काल में नयी अभिव्यक्ति प्रणाली की तलाश की है। उदाहरण के लिए हम जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि की गीत परंपरा में ब्रजप्रदेश को अंदर विकसित गीतात्मक पदावली की सृजन प्रकृति की विवेचना कर सकते हैं।

सूर काव्य के रूपविन्यास के विश्लेषण की प्रक्रिया में यह बताया जाता है कि 'प्रगीत' की जो खास पहचान है, उस कसौटी पर सूर के पद खरे नहीं उतरते। यह उल्लेख किया जाता है कि प्रगीत में वर्णनात्मकता नहीं होनी चाहिए, कोई आख्यान या कथातत्व नहीं होना चाहिए। पर सूरसागर के अधिकांश पदों में वर्णनात्मकता के साथ-साथ कथातत्व भी है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने सूर काव्य के गीतितत्व की व्याख्या करते हुए उल्लिखित गुत्थी को सुलझाया है। उनकी मान्यता है कि **कृष्णकाव्य के बृहद आकार में ऐसा अंश भी है जिनके गीतिपदों में गीतिकाव्य के बहुत कम लक्षण मिलेंगे, जिनमें न तो कवि की गहन स्वानुभूति होगी, न भाव की संहति तथा जिनमें भावात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता ही अधिक होगी। स्वयं 'सूरसागर' में अनेक लम्बे और वर्णनात्मक पद हैं जिनमें घटना और इतिवृत्त की प्रधानता तथा भाव की न्यूनता और विश्रृंखलता है।**

वस्तुतः ये पद गेय भी नहीं है और न वे कवि की किसी गहरी अनुभूति को ही व्यक्त करते हैं। परन्तु कृष्णकाव्य में गीतिपदों की लोकप्रियता और सफलता का ही यह एक प्रमाण कहा जाएगा कि वर्णनात्मक कथा प्रसंगों को भी गीतिपदों की शैली में रचा गया है।

कृष्णकाव्य के गीतिपदों की अंतिम किंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें स्वानुभूतिमूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्णकाव्य के अनेक प्रसंगों का प्रायः क्रमबद्ध रूप में वर्णन मिलता है। 'सूरसागर' में गोपाल कृष्ण की संपूर्ण कथा प्रायः पदों में ही गाई गई है। जैसा कि पीछे कहा गया है, 'सूरसागर' के गीतिपदों में वर्णित संपूर्ण कृष्णलीला में एक सामान्य कथानिबद्ध प्रबंधात्मकता अपने पूर्ण रूप में है। उसके अंतर्गत विशिष्ट कथानकों को गीतिपदों की शैली में ही और अधिक सुसंबद्धता और पूर्वापर प्रसंग-संदर्भ के साथ रचा गया है; यहाँ तक कि उन्हें प्रसंग से भिन्न करके समझने में प्रायः भूल हो सकती है, और फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन पदों में भी गीति तत्व प्रायः अक्षुण्ण रहा है। कृष्णकाव्य की यह अतुलनीय विशेषता है कि उसमें प्रबंध और गीति के परस्पर विरोधी लक्षण एकाकार हो गये हैं।

काव्य के पुराने प्रचलित रूप-विधानों में महान कृतिकारों की सर्जना शक्ति और उनकी नई उद्भावनाओं से परिवर्तन होते रहे हैं। प्रगीत के स्वरूप और रचनातंत्र में सूरदास तथा अष्टछाप के अनेक रचनाकारों ने ऐसा ही परिवर्तन किया है। संभवतः इसीलिए डॉ. मनमोहन गौतम ने अपने निबंध 'सूर के गीतिकाव्य का स्वरूप विश्लेषण' में यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी "गीतपद्धति अनेक तात्विक विरोधों का सहज समन्वय है।" उनका तर्क है कि सूर का समस्त काव्य राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है और चूँकि ये वर्णन राग-रागनियों में ढले हुए हैं, अतः इन्हें हम वर्णनात्मक गीतिकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं। इन गीतों में भक्त सूरदास का आत्मनिवेदन क[illegible] ' रूप में और

IHMDC-066

कभी कृष्ण-कथा के भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्त होता है। अत: इन प्रगीतों में भक्त सूरदास की आत्माभिव्यंजना भी तीव्रतर रूप में व्यक्त हुई है। डॉ. मनमोहन गौतम सूरदास के प्रगीत कौशल की व्याख्या करने के क्रम में यह उल्लेख करते हैं सूर के पदों में रागात्मक अन्विति का सफलतापूर्वक निर्वाह मिलता है। उन्हीं के शब्दों में – रागात्मक अन्विति गीतिकाव्य की धुरी है। पद में एक ही भाव आदि से अंत तक विद्यमान रहता है। इसी अन्विति के कारण गीत अपने में सर्वथा पूर्ण होता है। पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं होती – गीत की अन्विति तभी श्रेष्ठ होती है जब उसमें विचारों की बौद्धिकता एवं इतिवृत्तात्मकता का अभाव हो। सूरदास जी के गीतों में भाव और स्वरों की संगति प्राय: प्राप्त होती है।

आत्माभिव्यंजना या आत्मपरकता, एक भाव की अन्विति तथा गेयता – इन तीन तत्वों के कारण सूरदास के गीत लोकप्रिय हुए हैं। पर सूरकाव्य की प्रगीतात्मकता के विवेचन के क्रम में संगीतज्ञ सूरदास के गायन और वादन को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। "सूरकाव्य में शब्द और स्वर की समवेत परम्परा'' शीर्षक डॉ. अम्बाशंकर नागर के निबंध में बताया गया है कि सूर उत्कृष्ट कोटि के संगीतज्ञ थे। उन्होंने पदों की रचना राग-रागनियों एवं तालों के आधार पर की थी। वे कीर्तनिये थे। पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति में अष्टयाम सेवा एवं कीर्तन का विशेष विधान है। सूर ने विशेष तथा संकीर्तन के हेतु ही विभिन्न रागिनियों एवं तालों में श्रीकृष्ण की लीलाओं के ध्रुवपदों की रचना की थी।

डॉ. नागर का अनुमान है कि बहुत प्राचीनकाल से काव्य और संगीत की समवेत परंपरा चली आ रही थी। सूरदास उसी पुरानी परंपरा की एक मजबूत कड़ी थे, चूँकि उनके कृतित्व में काव्य और संगीत का समागम है। भक्तिकाल के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने भी काव्य और संगीत के गहरे संबंधों की पड़ताल की है। "भारतीय साहित्य की भूमिका'' नामक अपनी नई पुस्तक में उन्होंने "संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण को समस्याएँ'' नामक एक लम्बा अध्याय लिखा है। इसी में 'ध्रुवपद और सूरदास' शीर्षक एक छोटी सी टिप्पणी भी है। चार पंक्तियों के अक्षरप्रधान गीत ध्रुवपद के रूप में सूरदास द्वारा गाये जाते थे। रामविलास शर्मा ऐसे गीतों के नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत के एक प्रकार अर्थात ध्रुवपद के रूप में अविस्मरणीय महत्व की चीज़ मानते हैं। उनकी टिप्पणी है – मुख्य बात यह है कि सूरदास के लिए गायन, वादन और नृत्य – तीनों संगीत की समन्वित इकाई हैं।

सूर की पदावली अथवा उनके प्रगीतों में संगीत तत्व की उपस्थिति पर रामचंद्र शुक्ल का भी ध्यान गया था। उन्होंने कहा था – सूर की रचना जयदेव और विद्यापति से गीतकाव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौंदर्य या माधुर्य का भी इस- परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे या संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है ।

भक्तिकाल में लिखे जाने वाले प्रगीतों में गेयता को एक अनिवार्य अवयव के रूप में स्वीकार किया जाता था। अत: सभी भक्त कवियों के गीत संगीत की स्वरलहरी में ढाल कर रचे गये हैं। प्रगीत रचना की दृष्टि से सूरदास के गीतकाव्य के स्वरूप निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान सूरपूर्व ब्रजभाषा के कवियों का है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णलीला विषयक पदों के रचयिताओं में निम्बार्क संप्रदाय के तीन कवि – श्री भट्ट (सं.1352 वि.), हरिव्यास देवाचार्य (सं. 1320 वि.) और परशुराम देव (सं. 1450 वि.) उल्लेखनीय हैं। सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्यपरंपरा पर अपने शोधग्रंथ में डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने उल्लिखित कवियों के अतिरिक्त विष्णुदास का भी उल्लेख किया है जिन्होंने सूरदास से पचास साल पहले ही राग-रागिनियों में निबद्ध पदों की रचना की थी। इसके अलावा ब्रजक्षेत्र के ग्रामगीतों और लोकगीतों का भी सूर पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इन ग्रामगीतों और लोकगीतों में लीलापदावली और रासलीला की नृत्यगायन परंपरा का प्रभाव विभिन्न रूपों में आकर मिश्रित हो गया होगा – ऐसा अनुमान क्षितिमोहन सेन और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है। रासलीला के नृत्य-क्षण में गाये जाने वाले ध्रुपदों की रचना सूरदास ने की थी। शरदोत्सव में रासलीला के गीत, झूलन प्रसंग में झूले के गीत, पावस ऋतु में सावन भादो के गीत, वसंतोत्सव, फाग, होली आदि के गीत सूरसागर में भरे पड़े हैं। चांचर, झुमका, होरी, धमार, के गीतों के माध्यम से प्रेमोन्मत्त गोप-गोपियों के दृश्यचित्र भी सूरसागर में विविध रूपों में आये हैं। इनके अलावा कृष्ण जन्मोत्सव के समय के बधाई गीत, सौहिलौ, मंगलगीत, नामकरण; अन्नप्राशन, वर्षगांठ कर्णछेदन आदि के संस्कारगीत भी सूरसागर में हैं। पूर्व त्योहारों में

NMDC-066

गोर्वधन पूजा, दीपमालिका, अन्नकूट आदि के गीतों से ब्रज लोकसंस्कृति की बहुरंगी छवि अंकित होती है।

श्री नाथ जी के मंदिर में प्रात: काल के जागरण से लेकर रात्रि काल के विश्राम तक अष्टयाम कीर्तन गीत गाये जाते थे - उनके साथ वाद्यसंगीत की भी व्यवस्था थी। ये कीर्तन गीत राग-रागिनियों में निबद्ध होते थे। बौद्धों के महायान पंथ के साथ सामूहिक कीर्तन की प्रथा आरंभ हुई। बाद में चैतन्य महाप्रभु ने इसे उत्तर भारत में व्यापक रूप से फैलाया। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में कीर्तनसेवा को विशेष महत्व प्रदान किया गया था और सूरदास को खास तौर पर इसी कार्य के लिए मंदिर में नियुक्त किया गया था। सूरसागर में ऐसे सैकड़ों पद हैं जो मूलत: श्रीकृष्ण की लीला का कीर्तन करती हैं - कहीं आख्यान के रूप में, कहीं वर्णन के रूप में, कहीं स्तुति के रूप में। कीर्तन गीतों में एक ही स्थिति या लीला के वर्णन में आवृत्ति भी होती है। डॉ. सत्येन्द्र तो संपूर्ण सूरसागर को "कीर्तनकाव्य" की संज्ञा देते हैं। कथा कहने के लिए सूरदास प्राय: बिलावल राग में कीर्तन गाते थे। इससे स्पष्ट है कि सूर की काव्य रचना में संगीत कितना निर्णायक महत्व रखता था।

सूर के पद नृत्य की गति और स्वरलहरी का अनुसरण करते हैं। सूरसागर . रासलीला के अनेक पद हैं। रासनृत्य मंडलाकार होता है। उसमें नर्तकी की प्रधानता होती है। रासनृत्य के बीच कोई गीत भी गाया जाता है और मंडलाकार नर्तक-नर्तकी समूह के बीच केंद्र में राधा और कृष्ण की उपस्थिति होती है। रास के साथ उससे मिलता-जुलता हल्लीसक नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। बाद में रासनृत्य का ही यह भी एक प्रकार माना जाने लगा। रासलीला में गाना, नाचना और विभिन्न प्रकार के बाजे का बजना - एकसाथ होता था। सूरसागर के रासलीला संबंधी पद नृत्य की सुसंगति में रचे गये थे - ये पद सिर्फ गाने के लिए नहीं होते थे; नृत्य के बीच गाने के लिए होते थे। उदाहरण के लिए 'नृत्यत स्याम नाना 'रंग' या 'विराजत मोहन मंडल रास' जैसे गीतों को इस संदर्भ में पढ़ा जा सकता है।

9.7 सारांश

इस इकाई में आपने भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य के महत्व की जानकारी प्राप्त की। इसमें आप सूर के जीवन, रचना, रचना वैशिष्ट्य और भाषागत विशिष्टता से परिचित हुए। उनकी कविता में ब्रज की लोक संस्कृति बोलती प्रतीत होती है। उनकी कविता गीतों में ढली है। अपने आराध्य कृष्ण की उपासना के लिए सूर ने ये पद गाकर रचे थे। इसलिए इसमें नृत्य, रास, वाद्यसंगीत, गायकी और ब्रज लोकगीत का गहरा प्रभाव है। बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में नया जागरण और कलात्मक उत्कर्ष आया जिसमें सूरदास का योगदान महत्वपूर्ण है। श्रीनाथ जी के मंदिर में अष्टछाप के कवि गायक ध्रुवपद, धमार शैली में गीत कीर्तन करते थे। सूरदास ऐसे भक्त कवि थे जिसके इष्टदेव के दरबार में जातपाँत के आधार पर कोई भेदभाव न था। यही वह लोकसामान्य भावभूमि थी जिनपर सभी भक्त कवियों की सहमति थी। निर्गुण और सगुण को लेकर भक्त कवियों में असहमति थी और सूर ने तो निर्गुण पर सगुण की श्रेष्ठता जतलाने के लिए ही भ्रमगीत प्रसंग की रचना की। सूर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी, जिसमें कृष्ण के प्रति समर्पण ही सबकुछ था।

9.8 अभ्यास/प्रश्न

(1) भक्ति आंदोलन में सूर का महत्व स्थापित कीजिए।

(2) सूरदास की काव्यात्मक उत्कृष्टता के प्रमुख आधारों की चर्चा कीजिए।

(3) सूर काव्य की भाषा पर विचार कीजिए।

(4) सूरदास का काव्य साहित्य और संगीत के समागम का उत्तम उदाहरण है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत/असहमत हैं। युक्तिपूर्ण उत्तर दीजिए।

इकाई 10 सूरदास के काव्य में प्रेम

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 सूर के काव्य में प्रेमानुभूति
10.3 सूर का वात्सल्य वर्णन
10.4 सूर काव्य में शृंगार
10.5 सूर की नयी उद्भावनाएँ
    10.5.1 सूर काव्य में राधा
    10.5.2 सूरदास का भ्रमरगीत
10.6 सूर का प्रकृति वर्णन
10.7 सारांश
10.8 अभ्यास/प्रश्न

10.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में हमने सूरदास पर समग्र रूप से विचार किया था। इस इकाई में हम सूर के काव्य का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़ने के बाद आप :

- सूर के काव्य में प्रेमानुभूति को रेखांकित कर सकेंगे,
- सूर के वात्सल्य और शृंगार वर्णन की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- सूरदास की नई उद्भावनाओं, यथा राधा और भ्रमरगीत, की विशेषताएँ जान सकेंगे, और
- सूर के प्रकृति वर्णन की विशिष्टता को पहचान सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

सूर प्रेम के कवि हैं। पिछली इकाई में आप पढ़ चुके हैं कि सूरदास पुष्टिमार्गी थे जिसमें ईश्वर के प्रति समर्पण ही सब कुछ था। कृष्ण भक्ति परंपरा में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की विस्तार से व्यंजना हुई है। बाल वर्णन हो या शृंगार वर्णन कृष्ण की मनोहर छवि चारों ओर विद्यमान है। शृंगार वर्णन में जो स्वच्छंदता और उन्मुक्तता सूर के काव्य में मिलती है, वह न पहले मौजूद थी और न ही बाद में यह परंपरा सुरक्षित रह सकी। सूर के कृष्ण और गोपियाँ स्वच्छंद हैं, लोकबंधन में जकड़े हुए नहीं हैं। सूरदास ने अपने पदों में वात्सल्य और शृंगार रस की अजस्र धारा बहा दी है; इस इकाई में इसपर विस्तार से विचार किया गया है। सूरदास ने श्रीमद्भागवत से कृष्णकथा अवश्य ली है पर उन्होंने उसे प्रेमाभक्ति के रंग में रंग डाला है और कई नए प्रसंगों की उद्भावना की है। राधा का चरित्र सूर ने अपने हिसाब से गढ़ा है। 'भ्रमरगीत' सूर का योगदान है जो मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्धपूर्ण है। यह अनुपम उपालंभ काव्य है। बार-बार इस बात की चर्चा की जाती है कि सूरकाव्य में प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित हुई है; आलंबन के रूप में प्रकृति काव्य का विषय बनकर नहीं आई है। इस इकाई में यह बताया गया कि महत्वपूर्ण यह नहीं है कि प्रकृति उद्दीपन के रूप में आई है या आलंबन के रूप में बल्कि महत्व इस बात का है कि प्रकृति चित्रण में सूर का दृष्टिकोण क्या है? इस दृष्टिकोण की चर्चा इकाई में की गई है और बताया गया है कि सूर का मन गाँवों में बसता था और उन्होंने गाँव की प्रकृति का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।

10.2 सूर के काव्य में प्रेमानुभूति

कृष्णभक्ति परंपरा में राधा कृष्ण को आराध्य मानकर बड़े विस्तार से प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति की गई है। सूरदास ने 'सूरसागर' में कृष्णजन्म से लेकर कृष्ण के मथुरा जाने को कथा कही है। सूरदास ने

NMDC-066

कृष्ण के बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। 'सूरसागर' में सूरदास ने वात्सल्य रस की धारा बहा दी है। सूर ने बाल क्रीड़ाओं और वात्सल्य से सने माता पिता के प्रेम का निश्छल चित्रण किया है। इन चित्रणों में सूर का प्रेम छलक-छलक पड़ता है।

स्त्री-पुरूष संबंधों के चित्रण में इतना खुलापन सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों में ही मिलता है। सूर के पहले के नाथ, सिद्ध या संत कवियों ने तो स्त्री को माया का प्रतिरूप और सारी सांसारिक बुराइयों की खान बता रखा था। तुलसीदास के यहाँ भी स्त्री के प्रति प्राय: ऐसा ही दृष्टिकोण मिलेगा। आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि कबीर और तुलसी के बीच – इस अंधे गायक सूरदास के काव्य में स्त्री स्वाधीनता तथा स्त्री-पुरुष संबंधों के मामले में इतनी स्वच्छंदता की यह नयी प्रवृत्ति कहाँ से आ गई? कुछ इतिहासकारों ने ब्रजक्षेत्र में आभीरों की उपस्थिति के आधार पर पशुचारण सभ्यता के अवशेष के रूप में इस स्वच्छंदता की व्याख्या की है। उनका मानना है कि आभीरों के समाज में स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से खुले तौर पर खेती और पशुपालन में श्रम करते हैं – अत: पितृसत्तात्मक सामंती समाज की मर्यादाओं, नैतिक विधि-निषेधों का दुराग्रह अभी आरंभ नहीं हुआ था। इसीलिए ब्रजक्षेत्र में राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीतों की परंपरा स्थानीय लोकसंस्कृति में काफी पुराने समय से चली आ रही थी। सूरदास उस परंपरा को प्रेमाभक्ति के परिप्रेक्ष्य में परिष्कृत रूप दे रहे थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस तर्कपद्धति का अनुमोदन करते हैं। वे इस तथ्य का भी उल्लेख करते हैं कि सूर के अभ्युदय से पहले ही बैजू बावरा के भी ऐसे ही गीत उपलब्ध हैं।

यूनान के पशुचारण काव्य (पेस्टोरल पोएट्री) का उल्लेख करने के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस प्रेमानुभूति के सामाजिक पहलुओं की बड़ी अच्छी विवेचना की है:

कवियों को आकर्षित करने वाली गोप जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सबसे अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और जो व्यवसाय आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए – उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश-काव्य के आरंभ में दिलीप को नन्दिनी के साथ वन-वन फिराकर उसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदास जी ने जमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्यों का विधान किया है। यथा-

मैया री। मोहिं दाऊ टेरत।
मोकों बन फल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।।

यमुना तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँट कर खाते हैं कभी इधर-उधर दौड़ते हैं।

गाय चराते हुए, साथ-साथ खेलते-कूदते हुए, हास-परिहास के बीच निर्बन्ध रूप में परस्पर साहचर्य का संबंध सिर्फ ग्वालबाल के साथ ही नहीं, गोपिकाओं से भी विकसित हो रहा है। गोकुल के गाँव में – एक निश्चित सुपरिभाषित ग्रामीण अंचल में, ब्रजभूमि के बीच जहाँ इस लीला का दिग्दर्शन कराया जा रहा है, वह अपने आप में एक ठोस भौगोलिक इकाई है, कोई अमूर्त्त आध्यात्मिक काल्पनिक इकाई नहीं है। यह जीता-जागता, धूल भरा मैला सा आँचल – ठोस रूप में नंद बाबा, माता यशोदा, वृषभानु, तमाम ग्वाल बाल, गोपिकाओं, तथा राधा और कृष्ण का सुपरिचित अपना गाँव है। इस गाँव में बचपन से ही राधा और कृष्ण का साहचर्य है पहली बार जब कृष्ण राधा से मिलते हैं तो उस मिलन के नाटकीय उतार चढ़ाव को सूरदास अंकित करते हैं –

खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुंडल स्रवनन बर दसन दमक दामिनि छबि थोरी।
गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रूलत झकझोरी।

NMDC-066

संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

कृष्ण खेलने निकले हैं। पहली बार राधा को देखते हैं। कैसा सुंदर रूप ! गोरी देह, नीला वस्त्र और पीठ पर वेणी। किशोरी - अल्पवयस, आँखें बड़ी-बड़ी और माथे पर रोरी। यह युवाकाल की परिणत बुद्धि के क्षण में परस्पर मिलन नहीं है - जिसमें साँस तेज चलने लगे और कंठ में बोली फँस जाये। यहाँ तो कोई संकोच नहीं है, कोई झिझक नहीं। कृष्ण ने पूछा - क्यों जी, तुम हमारे साथ खेलने क्यों नहीं चलती? हम तुम्हारा कुछ चुरा लेंगे - **तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलने चलौ संग मिलि जौरी।**. अगले दिन के खेलने के लिए कृष्ण ने कहा - सखी तुम हमारे घर आकर मुझे खेलने को बुला लेना। तुम्हें वृषभानु बाबा की कसम, सुबह-शाम एक बार मेरे पास जरूर आना - **तुमहिं सौंह वृषभानु बाबा की प्रात-साँझ एक फेर।** मन में कुछ भी नहीं छुपाते कृष्ण। साफ कहते हैं - तुम कितनी सीधी हो। इसीलिए तो तुम्हारे साथ रहने को जी चाहता है - **सुधी निपट देखियत तुमको तातैं करियत साथ।** धीरे-धीरे यह प्रेम पल्लवित होने लगता है। अब तो राधा को घर भी नहीं सुहाता

प्रति विरट तनु भई ब्याकुल धर न नेकु सुहाइ।

एक दिन नन्द ने दोनों से कहा आस पास ही खेलते रहना, दूर न जाना। राधिका को ताना मारा - सुनी तुमने नंद बाबा की बात? खबरदार, अगर मुझे छोड़के जाओगे तो फौरन पकड़ के ले आऊँगी। अच्छा हुआ जो मुझे सौंप गये। अब मैं तुम्हें छोड़ने वाली नहीं हूँ। तुम्हारी बाँह पकड़ के तुम्हें क्षण भर के लिए भी न छोड़ूँगी - पकड़े बैठी रहूँगी - तुम्हारी रखवाली जो करनी है। अगर रखवाली में ढील होगी तो अम्मा मुझे डाँट-फटकार लगायेंगी। **बाँह तुम्हारी नेक न छड़ि हौं महरि खीझि हैं हमको।** राध कृष्ण के बीच या गोपियों के साथ कृष्ण की यह प्रेमलीला वृन्दावन में, यमुना तट पर, गोकुल की गलियों में, पनघट पर, कभी कभी गाय चराते वक्त, कभी दही बेचते वक्त - नोकझोंक, हास-परिहार, व्यंग्य-विनोद और झीनाझपटी के साथ नयी नयी भंगिमाओं में अंकित हुई है।

संयोग शृंगार के इन स्वाभाविक प्रेमचित्रों में कामशास्त्र के नायक-नायिका भेद की कृत्रिमता नहीं है। साहचर्यजनित स्वाभाविक प्रेमानुभूति के चित्रों से सूरसागर भरा पड़ा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल स्त्री-परुष संबंध की सहजता के सामाजिक मनोविज्ञान की विवेचना करते हुए ठीक ही कहते हैं कि **वृन्दावन के उसी सुखमय जीवन के हास परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार्य अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास की छेड़छाड़ के साथ प्रेमव्यापार का अत्यन्त स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूपचर्चा सुन या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठे हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न बाधाओं को पार करने की लम्बी चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक-बंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं।**

10.3 सूर का वात्सल्य वर्णन

भक्तिकाल के कवियों में ही नहीं, उसके बाद के विभिन्न युगों के कृतिकारों के बीच भी सूरदास वात्सल्य रस के अप्रतिम चितेरे माने जाते हैं। इस क्षेत्र में उनसे टक्कर कोई नहीं ले सकता। बाल मनोदशाओं और बालक्रीड़ाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म हर पहलू का जैसा रूपांकन सूरदास के काव्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है।

'सूरसागर' में कृष्ण जन्म की आनन्द बधाई के दृश्यचित्रण से बाललीला का अंकन शुरू हो जाता है। बाल कृष्ण का एक रूप है - **पलक हरि मूँदि लेते हैं; कबहुँ अधर फरका वै**। दूसरा रूप है "उभय पलक पर" स्वप्न जागरण। तीसरा रूप है हाथ और पाँव का अँगूठा मुँह में लेना। पालना झूलने, यशोदा की गोद में खेलने, स्तनपान करने, घुटनों के बल चलने, डगमगा कर गिर पड़ने, मथानी की आवाज के साथ नाचने का प्रयत्न करने, दूध न पीने का हठ करने, चोटी बढ़ने के प्रलोभन पर दूध पीने, माँ द्वारा चंद्रमा दिखाये जाने पर चंद्रमा माँगने का हठ करने, माखनचोरी के लिए तरह-तरह की बालोचित युक्तियाँ निकालने --इस प्रकार की सैकड़ों बालोचित कीड़ाओं के चित्र सूरसागर में भरे पड़े हैं। सूर का काव्य बाल मनोविज्ञान की चित्रमंजूषा बन गया है। नीचे लिखे पदों में बाललीला का गान सुना जा सकता है-

(1) जसोदा हरि पालनें झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
(2) कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
(3) हरि किलकत जसुदा की कनिया।
(4) सुतमुख देखि जसोदा फूली।
हरखित देखि दूध की दंतियाँ, प्रेम मगन तनु की सुधि भूली।
(5) सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरूनु चलत रेनु तन मंडिन मुख दधि लेप किये।
(6) किलकत कान्ह घुटुरूवन आवत।
मनिमय कनक नन्द कै आँगन निज प्रतिबिम्ब पकरिबे हो, धावत।
(7) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
(8) मैया कबहिं बढैगी चोटी
(9) कजरी को पय पिपहु लला तेरी चोटी बाढ़ै।।

सूक्ष्म निरीक्षणों से भरापूरा सूर का बालवर्णन मनोविज्ञान की अनेक प्रक्रियाओं को दरसाता है। उत्सुकतावश बालकृष्ण पूछते हैं - मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी? दूसरी अवस्था अभियोग की है। बच्चा अपने अभिवावक के सामने अपने से बड़े की शिकायत करते हैं। बाल कृष्ण आरोप लगाते हैं -

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझाय।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौ , तू जसुमति कब जायौ।।
कहा करौं इहि रिस के मारैं, खेलन हौं, नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै।।

बालक कृष्ण की अटपटी क्षुब्ध अवस्था में - उनकी खीझ भरी मनोहारी क्रियाओं में बाल मनोविज्ञान का जो चित्र अंकित हुआ है, वह अनुपम है -

खीझत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंह टेढ़ी, बार-बार जंभात।
कहुं रुनझुन चलत घुटुरुनि धूरि धूसर गात।
कबहुं झुकि कै अलख खींचत, नैन जल भरि जात।
कबहुं तोतर बोल बोलत, कबहुं बोलत तात।
सूर हरि की निरिखि सोभा, निमिष तजत न मात।

जरा-जरा सी बात पर बच्चे का तुनकना और अपने प्रतिद्वन्द्वी की कल्पना स क्षुब्ध होना सूर ने कितनी अच्छी तरह दिखाया है -

NMDC-066

माखन खात हंसत किलकत हरि, पकरि स्वच्छ घट देख्यौ
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत, जानत आन परेख्यौ
मन मैं माष करत, कछु बोलत, नंद बाबा पै आयौ।
वा घट मैं काहू कैं लरिका, मेरौ माखन खायौ।
महर कंठ लावत, मुख पोंछत चूमत तिहिं ठां आयौ।
हिरदै दिए लख्यौ वा सुत कौं, तातैं अधिक रिसायौ।
कह्यौं जाइ जसुमति सौं ततछन, मैं जननी सुत तेरौ।
आजु नंद सुत और कियौ, कछु कियौ न आदर मेरौ

बच्चों में मां-बाप पर प्रेम की एकाधिकार भावना प्रबल होती है। इसी मनोदशा में ईर्ष्या होती है। कृष्ण बड़ी अच्छी तरह अकेले माखन खा रहे हैं। सहसा घड़े की तरफ नजर आती है और उसके अंदर के निर्मल जल में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। वे मान बैठते हैं कि दूसरा कोई बालक भी आ गया है और वह उनका हिस्सा माखन खा रहा है। बाल कृष्ण गुस्से से तुनकते हुए नंद से शिकायत करते हैं। नंद बच्चे को हृदय से लगा लेते हैं और घड़े के पास जाकर कृष्ण को गोद में लेकर खड़े हो जाते हैं। घड़े के जल में इस प्रतिबिम्ब को देखकर बालकृष्ण और भी दु:खी हो उठते हैं - उनका प्रतिद्वन्द्वी अब तो नंद की गोद में पहुँच गया है। उन्हें नंद के प्रेम पर ही आशंका हो जाती है और माँ यशोदा के पास शिकायत करने पहुँच जाते हैं - अब मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, नंद बाबा का नहीं क्योंकि वे किसी दूसरे लड़के को गोद में लिये हुए हैं और मेरा अनादर कर रहे हैं। यशोदा कृष्ण के साथ घड़े तक गईं - घड़े को हिलाया ताकि पानी की हिलकोर में प्रतिबिम्ब टूट फूट जाय। फिर तो कृष्ण माँ यशोदा से खुश हो गये।

बालरूप और बालक्रीड़ा के सौंदर्य का वर्णन करते-करते सूरदास की काव्य-प्रतिभा कभी मंद नहीं पड़ती। सौंदर्य की अनिर्वचनीयता के वर्णन क्षण में यशोदा के मुँह से कहलवाते हैं -

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि पाई।

जिस तरह शृंगार रस के अंतर्गत संयोग और वियोग - दो पक्षों के चित्र सूर ने खींचे हैं, उसी तरह वात्सल्य में भी संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य का वर्णन किया गया है। जब अक्रूर श्री कृष्ण को लेने गोकुल आते हैं, उस समय वियोग की आंशका से माँ यशोदा का हृदय धड़कने लगता है-

कहा काज मेरे छगन मगन कौ नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हरन कौ काल-रूप ह्वै आयौ।।

वात्सल्य वर्णन में सूरदास माँ यशोदा की विभिन्न भाव-दशाओं के भी अपूर्व चित्र खींचते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह मान्यता है कि बाललीला वर्णन से कहीं अधिक यशोदा के मातृ हृदय के चित्रण में सूरदास को अद्वितीय सफलता मिली है। कृष्ण की बाल-लीला, उनके हठ, उनकी मनोरम क्रीड़ा, उनकी खीझ, उनकी शिकायत आदि से माता यशोदा के हृदय का छलकता हुआ आह्लाद जितनी कलात्मक बारीकी से अंकित किया गया है, श्रीकृष्ण के मथुरा प्रवास के समय वियोगिनी यशोदा की व्याकुलता, करुणा और उद्वेलित भावनामयता के चित्रण में भी वैसी ही कलात्मकता के दर्शन होते हैं। आचार्य द्विवेद्वी के शब्दों में - यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृहृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। 'माता' संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती-जननी के प्रेमपल्लवित हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी उसी सतर्कता से छू सके हैं।

NMDC-066

भक्तिकाव्य के सभी समालोचकों ने सूर के वात्सल्य वर्णन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल यह मानते हैं कि जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आयी, उसमें रूपवर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।

सूरदास के वात्सल्य वर्णन की अभूतपूर्व कलात्मक प्रौढ़ता का कारण कहाँ है? मैनेजर पांडेय का विश्लेषण यह बताता है कि सूरदास वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। वे जब बालकृष्ण की लीलाओं, चेष्टाओं और मनोभावों की व्यंजना करते हैं तो स्वयं बालक बने प्रतीत होते हैं और जब माँ यशोदा की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हैं तो मातृहृदय से युक्त जान पड़ते हैं। सूर की गहरी अनुभूति और तन्मयता के कारण उनकी कविता में 'तदाकार परिणति' की अद्भुत क्षमता है।

10.4 सूर काव्य में शृंगार

भक्ति आंदोलन में सिर्फ वर्णाश्रम व्यवस्था का ही विरोध नहीं है, आर्थिक और सांप्रदायिक भेदभाव का भी विरोध है; हर प्रकार के पाखंड, आडम्बर, रूढ़िवाद और सड़े गले रीति रिवाजों का भी विरोध है। ईश्वर के दरबार में सभी मनुष्य बराबर हैं – और भक्ति के रास्ते बराबरी के इस हक को सहज ही पाया जा सकता है। भक्तिकाव्य की यह लोकसामान्य भावभूमि है जिस पर कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी अलग-अलग रास्ते से आकर इकटठे मिल जाते हैं।

भक्तिकालीन उपर्युक्त सामान्य भावधारा के अलावा हर कृतिकार की कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं, उसका अपना विशिष्ट योगदान भी है, उसकी पृथक् काव्यभंगिमा भी है। अगर इस दृष्टि से सूरदास के काव्य का मूल्यांकन करें तो आपको पता चलेगा कि स्त्री-पुरुष संबंधों का जैसा वैविध्यपूर्ण और सप्राण चित्रण सूरदास ने किया है, वैसा उस युग के किसी अन्य कृतिकार से संभव ही नहीं हो सका। विधि-निषेध और सामाजिक मर्यादाओं की जकड़बंदी से मुक्त रतिभाव अपने नैसर्गिक रूप में सूर काव्य में दिव्य छटा लिये हुए हैं। यह प्रेम वर्णन लौकिक भी है और अलौकिक भी। लौकिक इसलिए कि यह रतिभाव हाड़मांस के मनुष्यों की स्वाभाविक तृष्णा, कामना और लालसा के संसार को सामने लाकर – 'सहृदय, श्रोता, भक्तजन – सबके लिए आनन्द की सृष्टि करता है। अलौकिक इसलिए है कि आसक्ति और काम भावना की शारीरिक अभिव्यक्तियों पर रागानुगा भक्ति का उदात्त आलोक जगमगाता रहता है। शृंगार और भक्ति का प्राय: ऐसा ही सम्मिश्रण जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य में भी दिखायी पड़ता है। एक हद तक मीरा में भी इस प्रवृत्ति के लक्षण दिखायी देते हैं। रतिभाव की लौकिकता और मधुर उपासना की अलौकिकता के बीच कलात्मक सामंजस्य के निर्वाह में सूर की काव्यभंगिमा अपूर्व कौशल का परिचय देती हैं। यह तकनीक प्रगीतधर्मी वर्णनशैली में अच्छी तरह विन्यस्त हो गई है। लौकिक आनन्द और इष्टदेव की उपासना – दोनों को काव्यानुभूति के स्तर पर मिला लिया गया। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी सूर के शृंगार वर्णन में पुष्टिमार्गीय भक्तिदर्शन का गहरा प्रभाव देखते हैं। उनके अनुसार पुष्टिमार्गी भक्त यह अनुभव करता है कि यह देह अपनी नहीं, भगवान की है। समस्त विषयभोगों और देहादि का समर्पण शुद्ध पुष्टिमार्ग कहा गया है। ज्ञान की इस मार्ग में आवश्यकता नहीं है, उसका कोई प्रयोजन ही नहीं है। केवल प्रेम ही इसके लिए बस है। सूरदास जी की यह प्रेममयी भक्ति थी।

सशरीरी प्रेमासक्ति के वर्णन में, कामोद्दीपक संयोग शृंगार के चित्रण में सूरदास को क्यों झिझक हो – जब राधा और गोपियों को इस प्रसंग में जरा भी नैतिक झिझक और मर्यादा हानि का बोध नहीं है। गोपियों का तर्क यह है कि इस शरीर की सृष्टि जिसने की है, उसे ही इस शरीर को सौंपने में लज्जा कैसी, झिझक कैसी, कंजूसी कैसी? पुष्टिमार्ग के भक्त-जन शरीर को अपवित्र चीज़ नहीं मानते - चूंकि

HMDC-066

यह शरीर उसी परमसत्ता की पावन कृति है। भगवान की लीला अपूर्ण रह जायेगी अगर लीलापुरूषोत्तम को शरीर में सौंपा जाय। भगवान भी नित्य है और भक्त जनों का यह शरीर भी नित्य है। इसलिए राधा और गोपियाँ दैहिक मानमर्यादा भूल जाती हैं - तन्मयता के क्षण में संसार का विस्मरण हो जाता है। पंडित नंद दुलारे वाजपेयी की यह मान्यता है कि सूरदास राधा का श्रीकृष्ण में अनन्यत्व दिखाकर ही संतोष नहीं करते, सारे ब्रजमंडल की गोपियों की भी राधा की ही प्रतिमूर्ति बना देते हैं। जो सुख राधा ने कृष्ण के साथ एकाकार होकर प्राप्त किया उसे गोपियों ने अपना ही सुख मान लिया। मान ही नहीं लिया, बना भी लिया। इस प्रसंग का चित्रण सूरसागर में अधिक विस्तार के साथ किया गया है। श्री कृष्ण सूरसागर में 'बहुनायक' कहे गये हैं। वे प्रत्येक गोपी के साथ प्रेम करते हैं। किसी को छलते नहीं, किसी के साथ विहार करते और किसी के घर प्रातःकाल दर्शन देते हैं। इस प्रकार बारी-बारी से सबको प्रसन्न करते हैं।

सूर के शृंगार वर्णन के प्रसंग में भक्तिरस या मधुररस की भी चर्चा की जाती है। चूँकि यह भगवत् विषयक रति है, अतः शारीरिक आसक्ति, शरीर समागम, काम-वासना आदि उदात्त रूप ग्रहण कर लेती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रूपगोस्वामी के "भक्तिरसामृत सिंधु" में बताये गये मधुर रस की विवेचना के प्रसंग में बताते हैं कि श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की रति या राधा की प्रेमासक्ति जड़ जगत की गर्हित वस्तु नहीं रह जाती - जड़ जगत में जो रति सबसे नीची है, वही भवगद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगार रस जो जड़ जगत में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर मधुर रस हो जाता है, यद्यपि भक्तिशास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल ब्रज सुंदरियों के लिए शृंगार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके लिए काम और प्रेम में भेद नहीं है।

स्त्री-पुरूष संबंधों में सूर के काव्य में किसी भी प्रकार के नैतिक व्यवधान, कृत्रिम रूप से आरोपित बंधन आदि का न होना यह बतलाता है कि शृंगार और प्रेम की सामाजिक अवधारणा प्रस्तुत करने में यह महाकवि अपने समकालीनों से सर्वथा भिन्न है। इस बहस को अमूर्त्त सैद्धांतिक विवेचना के कुहासे से निकालने के उद्देश्य से कुछेक ठोस उदाहरणों को देखना आवश्यक है।

गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर चपला चमकि चहूँ ओर
सुवन तन चितै नँद डरत भारी।।
कह्यो वृषभानु की कुँवरि सों बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जा री।।
दोउ घर जाहु संग नफ भयो स्याम रँग
कुँवर कर गह्यो वृषभानु बारी।
गये वन ओर नवल नंद किसोर
नवल राधा नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन जये
सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी।।

सूर-काव्य में अंकित प्रेमानुभूति का बहु-आयामी मूल्यांकन करते हुए मैनेजर पांडेय उसे ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर दिखाने का प्रयास करते हैं। जयदेव और विद्यापति के शृंगार वर्णनों की थोड़ी सी छाया सूर पर है - इसे दबे स्वर में वे मान लेते हैं। इसके बाद उनका कहना है कि सूरदास ने संयोग में आलिंगन, चुम्बन आदि के जो चित्र खींचे हैं उनके मूल में जयदेव के गीतगोविन्द की प्रतिध्वनि है। मूल्यांकन के इसी साँचे को बरकरार रखते हुए वे कहते हैं - जयदेव और विद्यापति के संयोगवर्णन में शरीर का विलास अधिक है, किंतु सूरदास के संयोगवर्णन में मन की सूक्ष्म गतियाँ अधिक प्रकट हैं। रतिकेलि के अनन्तर रतिचिन्हों, से विभूषित राधा के दो शब्द चित्रों की तुलना से यह बात स्पष्ट होगी। संयोग के बाद की राधा का एक शब्दचित्र सूर ने इस रूप में निर्मित किया है:

HMDC-066

लटें उघरारी कहीं छूटि-छूटि आनन पै,
भींजी हैं फुलेलनि सौं आली हरिसंग केलि।
सौंधें अरगजा अरु मरगजी सारी अंग,
कहूँ दरकी कुचनि पर अंगिया नवेली।।
नैन अरसात अरु बैनहूँ अटपटात,
जति ऐंड़ाति गात गोरि बहियानि झेलि।
सूर प्रभु प्यारी प्यारे संग करि रंग रास,
अरस परस दोऊ अंकम धरयौ है मेलि।

दूसरा चित्र जयदेव का इस प्रकार है:

व्यालोल: केशपाशस्तर लित मलकै : स्वेदलोलो कपोलौ।
स्पष्टा-दष्टाधर: श्री: कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टि:।।
कांची कांचिद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्य:।
पश्चयन्ती चोत्मरूपं तदीप विलुलितं स्रग्धरेपं धुनोति।।

इन दोनों शब्दचित्रों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास का शब्दचित्र गतिशील है उसमें आंगिक मुद्राओं और मन की गति एवं दशा की व्यंजना हो रही है, लेकिन जयदेव का शब्दचित्र स्थूल उपकरणों से सुसज्जित है।

वाच्यार्थ में रतिकियाओं की चलचित्रात्मक अभिव्यक्ति हो या सांकेतिक व्यंजना हो - सूर के संदर्भ में मुख्य बात है प्रेमसंबंधों की साहचर्यजनित नैसर्गिकता। आचार्य शुक्ल ने इस प्रवृत्ति को जयदेव, विद्यापति आदि से अलगाते हुए **प्रेमसंगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा** की संज्ञा दी है। ब्रजभूमि के आभीरों की दीर्घकाल से चली आ रही स्वच्छंद जीवनधारा, ग्रामप्रकृति के मुक्त प्रांगण में निर्बन्ध विचरण के बीच स्वाभाविक रूप में अंकुरित प्रेम और काम संबंध की निर्विकार उद्दाम भावना सूर की शृंगारिकता को एक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में पेश करती है। यह शृंगार अकुंठ रतिसंबंध, अकुंठ तृष्णा और अकुंठ तृप्ति के इर्दगिर्द केन्द्रित है।

स्त्री-पुरूष के सहज स्वाभाविक संबंध के विकास के रास्ते में कालकम से उत्तर भारत के हिन्दीभाषी समाज ने पितृसत्तात्मक नीतिनियम की अर्गला बना दी। दलितों और शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी नीचा स्थान दिया गया बल्कि स्त्रियों को सारी बुराई, पारिवारिक बंधन और सांसारिक भवबाधा की जड़ बताया गया। ब्रजवासियों का पशुचारी समाज सूरदास के काल तक उक्त प्रवृत्ति का अपवाद प्रतीत होता है। ब्रज लोकनृत्य में स्त्री-पुरुष की उन्मुक्त सहभागिता का एक दृश्य सूरदास ने चित्रित किया है जिसमें मंडलाकार सभी नाच रहे हैं। युवतियाँ भी हैं, युवक भी। राधा और कृष्ण बीच में हैं। तीव्र चपल नृत्यगति के बीच सहसा कृष्ण के कुंडल से राधा की लट अटक गई है, एक ही वनमाला के बीच दोनों आ गये हैं - लगभग आलिंगन जैसी देहभंगिमा और घनिष्ठ सामीप्य का दृश्यचित्र है। बत्तीस अक्षरों का यह विशुद्ध कवित्त - संगीत की दृष्टि से नि:संदेह रूप में ध्रुपद हैं। रामविलास शर्मा की टिप्पणी है - **युवतियों के घेरे के बीच वे होड़ करते हुए नाचते हैं और मुँह से ताता थेई बोल निकालते हैं। उदात्त शृंगार की ऐसी व्यंजना हिन्दी काव्य में कम हुई है।**

अगर ब्रज लोकजीवन में स्त्री-पुरुष को ऐसी स्वच्छंदता न मिली होती तो कीर्तनिया सूरदास श्रीनाथ जी के मंदिर में बैठकर ऐसे दृश्यों की कल्पना कहाँ से कर लेते? कबीर, जायसी या तुलसी के काव्य में ऐसी कल्पना क्यों नहीं है? इसका सिर्फ एक ही उत्तर है - वह यह कि कबीर ब्रज की लोकसंस्कृति से परिचित नहीं थे; जायसी और तुलसी भी नहीं थे। ये वर्णव्यवस्था और पितृसत्तात्मक समाजतंत्र से जकड़े हुए परिवेश के बीच पले बढ़े थे। पारिवारिकता, गृहस्थ जीवन और गोचारण के अनिवार्य संदर्भों में ही कृष्ण तथा राधा के प्रणय जीवन का मर्म वास्तविक रूप में खुलता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी की व्याख्या है कि **सूर के काव्य में समूचा घर-परिवार कुटुम्ब चित्रित होता है। कृष्ण की ब्यौरवार दिनचर्या, संस्कारों और उत्सवों के क्रमिक चित्रण में एक पूरा परिवार और ग्रामीण समाज उभर**

NMDC-066

कर सामने आता है। आगे चलकर युवा कृष्ण का जीवन भी एकदम निरपेक्ष या एकांतिक नहीं है, पूरा गाँव किसी न किसी रूप में उसमें भागीदार है। वसंतोत्सव और रास के विविध सामूहिक आयोजन इसके व्यावहारिक प्रमाण हैं।

10.5 सूर की नयी उद्भावनाएँ

सूरदास ने श्रीमद्भागवत से कृष्णकथा अवश्य ली है, पर हर जगह नीरस भाव से नकल कर निष्प्राण पद्यरचना नहीं की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्थापना है - **सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना** । सूरसागर की कृष्णकथा में सैकड़ों स्थलों पर घटना-संदर्भ बदलकर आख्यान को सर्वथा नया रूप प्रदान कर दिया गया है, जबकि श्रीमद्भागवत में उन घटना-प्रसंगों की प्रस्तुति भिन्न रूपों में की गई है। अपनी मौलिक सूझबूझ, प्रतिभा के स्फुरण तथा सृजन-कल्पना की उन्मुक्त उड़ान के लिए सूरदास ने बाललीला, सख्यभाव, राधा कृष्ण के बीच प्रेमसंबंध के विकास, गोपियों के साथ लीलाविहार, भ्रमरगीत आदि कथा प्रसंगों पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। कृष्ण के जनप्रिय और लोकमंगलकारी रूपों को रमणीय रूप में प्रस्तुत करने पर सूर का कोई जोर नहीं है। कृष्ण के बाल रूप, सखा रूप और युवा प्रेमी रूप पर ही सूरदास रीझे हैं। अत: एक भावमर्मी कवि के रूप में यद्यपि सूर की सृजनशीलता और रमणीय संवेदना के क्षेत्र सीमित हैं, पर इन सीमित क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक जरूर आये हैं।

श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों से कृष्णकथा के विभिन्न प्रसंगों को लेने के बावजूद सूरदास अपनी मौलिक काव्यप्रतिभा और उद्भावना शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत कर पाये - इसके पीछे मूल कारण क्या है? प्रो. कल्याणमल लोढ़ा इस प्रसंग में रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत और सूरसागर का अंतर स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि **जहाँ तुलसीदास राम के देवत्व और अवतारी रूप को कभी नहीं भूलते, वहाँ सूरदास अपने आराध्य का सदैव स्मरण करते हुए भी उनके लोकसामान्य सहज मानवीय रूप को कभी दूर नहीं होने देते। यही तत्व श्रीमद्भागवत और सूरसागर का मूल रचनात्मक भेद स्पष्ट करता है।** अपने प्रिय चरित्र के सहज पारिवारिक संबंधों, उसके स्वाभाविक मानवीय रूपों और उसके लौकिक पहलुओं को क्रियाशील और गतिमान संदर्भों में प्रस्तुत करने के लिए उनकी कल्पनाशीलता को पंख लग जाते हैं, वे स्वत: नये-नये प्रसंगों की अवतारणा करने लगते हैं और पौराणिक कथारूढ़ि उनकी प्रतिभा को अवरुद्ध नहीं कर पाती। कृष्णकथा के लौकिक और पारिवारिक-मानवीय पक्षों के भीतर एक से एक नये रागात्मक पक्ष का भावोन्मेष सूर की काव्यकला को विलक्षणता प्रदान करता जाता है। कृष्ण का सर्वजनसुलभ रूप, समरस होकर अपना पार्थक्य खो देना, माखनचोरी, रासक्रीड़ा, ग्वालबाल के साथ खेलकूद - और सबसे उत्तम बात यह कि ब्रजभूमि के लोकरिवाजों के बीच घटती हुई तमाम तरह की लीलाएँ।

10.5.1 सूर काव्य में राधा

श्रीमद्भागवत में राधा नहीं है। महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से भागवत की कृष्णकथा के भिन्न-भिन्न प्रसंगों को कीर्तनकार सूरदास स्वरचित पदों के माध्यम से श्रीनाथजी के मंदिर में गा रहे थे। भागवत या ब्रहमवैवर्त पुराण द्वारा बांधी गयी सीमाएँ कीर्तनकार सूरदास को स्वीकार नहीं हैं। वे बार-बार अपनी मौलिक प्रतिभा और नई उद्भावना शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इसी क्रम में राधा का स्थानीय रंग में रंगा हुआ, ब्रज की लोकसंस्कृति की धूलमिट्टी में लिपटा हुआ एक स्वाधीन और स्वाभिमानिनी नारी चरित्र का कृष्ण की स्वकीया के रूप में चित्र अंकित होता है। इस चरित्र के अनेकानेक चित्रों से सूर का काव्य भरा पड़ा है। भक्त कवि जयदेव के संस्कृत में लिखे प्रगीतों के संग्रह 'गीतगोविन्द' की यह राधा नहीं है। उद्दाम आवेग और निर्बन्ध आसक्ति से पीड़ित राधा का यह चरित्र जयदेव की ही विशेषता है। विद्यापति की राधा की अटूट मुग्धावस्था भी यहाँ नहीं है। सूर की राधा चंडीदास की राधा के समान मोम की पुतली भी नहीं है। यह तो बाल सखी है - होश संभालते ही चिर साहचर्य में पली-बड़ी खेलीकूदी है। गाँव के परिवेश में एक दिन श्रीकृष्ण ब्रज की गलियों से खेलते हुए निकल रहे थे। सहसा क्या देखा - **'औचक ही देखी तँह राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।'** सूर

के श्याम पहली नजर पड़ते ही रीझ गये - आँखें ठगी रह गयीं - **'सूर श्याम देखत ही रीझे नैन मिलि परी ठगोरी।'** ठगौरी के बावजूद कोई झिझक नहीं है। अकुंठ भाव से निःसंकोच परिचय पूछा -

बूझत श्याम कौन तू गोरी?
कहाँ रहति काकी है बेटी, देंखी नहिं कहूँ ब्रजखोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी।
सुनत रहत श्रवनन नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम जैहैं, खेलन संग चलौ मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातनि भुलइ राधिका गोरी।

कृष्ण राधा से सीधा संवाद स्थापित करते हैं। कहाँ रहती हो? किसकी बेटी हो? तुम्हें तो ब्रज की गलियों में देखा ही नहीं? राधा पूरे स्वाभिमान के साथ अपने दृढ़ स्वर में - आवाज की थोड़ी बहुत कड़ाई के साथ कहती है - मैं तो अपनी पौरी में ही खेलती रहती हूँ। गली-गली भटकने की मुझे क्या जरूरत पड़ी है। मैंने यह जरूर सुन रखा है यानी तुम्हारी ख्याति सुन रखी है कि नंद का बेटा चोरी करता रहता है - मक्खन की चोरी। कृष्ण उसी लहजे में व्यंग्योक्ति की छींटे मारते हैं - तुम्हारा क्या चुरा लूँगा? अरे चलो - खेलने चलो, आओ जोड़ी बना लें और खेलने चलें। निपट सीधी राधा बातों में भूल गई। रसिक शिरोमणि कृष्ण ने बातों ही बातों में राधा को आत्मविस्तृत कर दिया। पहली-पहली भेंट में हुए प्रेम का यह नाटकीय वर्णन सूर की राधा को कुछ अलग प्रकार की कूची और रंगों से चित्रित करता है।

इसके बाद मुग्धा प्रेमिका की विकलता का प्रारंभिक स्वरूप उभरता है -

नागरि मनहिं गई अरूझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ।

स्वजनों-परिजनों के बीच यह अकुंठ संबंध अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होता है। यशोदा राधिका से उसका परिचय पूछती हैं और उसके बाद उसके बाल सँवार देती हैं। फिर सहज ही अनुमति देती हैं-

खेलो जाइ स्याम संग राधा।
यह सुनि कुँवरि हरख मन कीन्हों मिट गई अंतर बाधा।

एक पद में राधा अपने अंतर्यामी प्रेमी से कहती हैं - तुम्हीं हो गवाह। क्या मैं तुम्हारे सिवा किसी और को जानती हूँ? दूसरे पद में राधा अपनी सखी से कहती है-

सुनु री सखी, दसा यह मेरी।
जब तें मिले श्यामघन सुन्दर संगहिं फिरत गई जनु चेरी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'मध्यकालीन धर्मसाधना' में सूरदास की राधिका के चरित्रांकन पर टिप्पणी है - **प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शांत और गंभीर हो जाती है।**

कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा जा रहे हैं। जब श्याम का रथ चल पड़ता है तो राधा कहती है - **सखी री, वह देखो रथ जात।** स्वामी के चले जाने के बाद राधा अनुभव करती है कि अब तो उसका शरीर कौड़ियों के मोल भी बिकने लायक न रहा - **सूरदास स्वामी के बिछुरे कौड़ी भरि न बिकात!** अब तो राधा को रात-रात भर नींद नहीं आती - **आजु रैनि नहीं नींद परी।** कृष्ण के बिना ब्रज के छायाकुंज

NMDC-066

बैरी हो गये हैं - **बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजै।** वियोगिनी राधिका मथुरा जाने वाले पथिक के माध्यम से संदेश भेजती है - **सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।**

भ्रमरगीत के पदों में उद्धव से भागी दौड़ी मिलने आने वाली गोपिकाओं में राधा नहीं है। अंत में जिस दिन उद्धव मथुरा के लिए लौटने वाले हैं, उस दिन उद्धव राधा के पास जाकर पूछते हैं - कोई संवाद, कोई संदेश, कोई चिट्ठी पत्री? राधा क्या जवाब दे? उसकी दोनों आँखें उमड़ आती हैं - उनके पैर उलझ जाते हैं और वे थरथरा कर गिर पड़ती हैं।

मथुरा के राजा श्रीकृष्ण महारानी रूक्मिणी और शासनतंत्र के तमाम ऐश्वर्य के साथ जब ब्रजवासियों से मिलने आते हैं तो राधिका भी उस भीड़ के अंतिम छोर पर दुबकी खड़ी हो जाती है। महारानी रूक्मिणी के पूछने पर कृष्ण उस भीड़ में उदास खड़ी 'नीलवसन तन गोरी' राधा की ओर संकेत करते हैं। रूक्मिणी राधा को अपने साथ लिवा गईं। प्रभु वहाँ पधारे जहाँ दोनों ठकुरानी उपस्थित थीं। उसके बाद ही -

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति है जु गई।
माधव राधा के रंग राते राधा माधव रंग रई।
माधव राधा; प्रीति निरंतर रसना कहि न गई।

चिर वियोग के लिए अभिशप्त राधिका उस अमूल्य अवसर का भी लाभ न उठा सकी। भगवान कृष्ण के चले जाने के बाद सिर्फ पछतावा रह गया -

करत कछु नाहीं आज बनी।
हरि आये हौं रही ठगी सी जैसे चित्तधनी।
आसन हरषि हृदय नहिं दीनो कमलकुटी अपनी।
न्योछावर उर अरध न अंचल जलधारा जु बनी।
कंचुकी तैं कुच-कलश प्रकट है टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अति लाज मनहि मन समुझत निज करनी।

सूरदास की राधा ऐसी ही है - चिर वियोग में संतप्त, पर स्वाभिमानिनी, अंदर-अंदर उमड़ती हुई, पर समुद्र की तरह गंभीर; कृष्ण से कोई भी मांग नहीं, पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर।

10.5.2 सूरदास का भ्रमरगीत

अनेक समालोचकों ने भ्रमरगीत प्रसंग को 'सूरसागर' का सर्वोत्कृष्ट अंश बताया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'सूरसागर' से भ्रमरगीत प्रसंग के पदों को खोजबीन कर निकाला और उसे सुसंपादित कर **'भ्रमरगीत-सार'** नाम से पाठक समुदाय के सामने रखा। इस संपादित पुस्तक के प्रारंभिक वक्तव्य में शुक्ल जी ने कहा है कि **भ्रमरगीत सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न है।** यह 400 पदों का संग्रह है। श्रीमद्भागवत के समान ही सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग का पहला पद श्री कृष्ण के वचन उद्धव के प्रति है-

पहिले करि परनाम नंद सो समाचार सब दीजो।
और वहाँ वृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लिजो।।
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंठियो।
सुख-संदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो।।

और अंत में मथुरा लौटने पर उद्धव के कृष्ण के प्रति वचन के अंतर्गत 20 पद हैं। इसके बाद सबसे अंत में कृष्ण के वक्तव्य के रूप में सिर्फ एक पद है -

HMDC-066

'ऊधो! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।'
हंस सुता की सुंदरि, कगरी अरु कुंजन की छाहीं।।
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं।।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं।।
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन है, यह कहि कहि पछिताहीं।।

हे उद्धव! मुझसे भी ब्रज की स्मृति भुलायी नहीं जाती। ब्रज में यमुना नदी का किनारा, कुंजों की छांह, गायें और बछड़े – सबकी याद मुझे बराबर आती रहती है। मुझे यह वातावरण भी नहीं भूलता जब मैं गौशाला को दूध दुहने के लिए जाते हुए ब्रज की गोपियों और ग्वालबालों की कल्पना करता हूँ। वहाँ ग्वालबाल सब कोलाहल करते हैं और परस्पर बाँह पकड़कर नाचते-गाते हैं। यह मथुरा धनवैभव की नगरी है, यहाँ मणियाँ और मोती हैं – पर जब मुझे ब्रज के सुख की याद आती है तो यहाँ का सारा वैभव फीका प्रतीत होता है और हृदय उमड़ आता है, सारी सुधबुध खो बैठता हूँ। मैंने वहाँ अनेक प्रकार की लीलाएँ की थीं- यशोदा और नंद ने उन्हें सहन कर निबाहा था। इतना सब कहने के बाद एक गहरे अवसाद से मौन होकर श्रीकृष्ण चुप हो गये और बार-बार इन स्मृतियों को दोहरा कर मन ही मन पछताने लगे।

भ्रमरगीत के पद स्वतंत्र मुक्तक की अपेक्षा प्रबंधात्मक प्रगीत की विशिष्टता के कारण अद्वितीय प्रतीत होते हैं। भ्रमरगीत प्रसंग की एक कहानी है। उस कहानी के पीछे एक घटना-वृत्त है और पात्रों के संवाद हैं। कहानी यह है कि श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ कंस के निमंत्रण पर मथुरा गये और वहां कंस को मारकर अपने पिता वसुदेव का उन्होंने उद्धार किया। इसी बीच कुब्जा नाम की दासी की सेवा से वे प्रसन्न हो गये और उसे अपने प्रेम की स्वामिनी बना बैठे। काफी समय बीत जाने के बाद भी जब वे मथुरा से लौटकर गोकुल वापस नहीं आये तब नन्द, यशोदा, राधा गोपियाँ तथा ब्रज के सभी लोग दुःखी होने लगे। कथा की इसी पृष्ठभूमि में उद्धव को ब्रज भेजा जाता है। चूँकि उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था और वे भक्तिमार्ग की निंदा करते थे, अतः कृष्ण ने गोपियों की भक्ति की तन्मयता का दिग्दर्शन कराकर उनका ज्ञानगर्व दूर किया।

आप संभवतः यह अवश्य जानना चाहेंगे कि इन गीतों को भ्रमरगीत की संज्ञा क्यों दी गई है? उद्धव के ब्रज में दिखाई पड़ते ही सारे ब्रजवासी उन्हें घेर लेते हैं। वे नन्द यशोदा से संदेशा कह चुकने के उपरान्त गोपियों की ओर ध्यान केंद्रित कर कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञानचर्चा आरंभ करते हैं। इस बीच में एक भौंरा उड़ता उड़ता गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है-

यहि अंतर मधुकर इक आयो।
निज सुभाव अनुसार निकट होइ सुन्दर सब्द सुनायो।।
पूछन लागीं ताहि गोपिका कुब्जा तोहिं पठायो?
कैधों सूर स्याम सुंदर को हो हमें संदेसो लायो?

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार भौंरे के आकस्मिक आगमन से गोपियों को एक पात्र मिल गया – **फिर तो गोपियाँ मानो उसी भ्रमर को संबोधन करके जो जी में आता है, खरी खोटी, उलटी सीधी, सब सुना चलती हैं। इसी से इस प्रसंग का नाम 'भ्रमरगीत' पड़ा है। कभी गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर कहती हैं, कभी उसी भ्रमर को संबोधित करके कहती हैं – विशेषतः जब परूष और कठोर वचन मुँह से निकालना होता है। शृंगार रस का ऐसा 'उपालंभ काव्य' दूसरा नहीं है।**

ये गीत संबोधित तो हैं भ्रमर को, पर वास्तविकता में उद्धव से तर्कवितर्क और उलाहने के रूप में रचित हैं, अतः अन्योक्ति पद्धति के काव्य के रूप में इनकी महत्ता स्वीकार कर ली गई है। इन गीतों की

HMDC-066

सरसता और मधुरता इसी बात में है कि ये सीधे वाच्यार्थ पर निर्भर न कर अपने आशय के लिए व्यंजना पर निर्भर करते हैं। नए-नए अनूठे भावों की व्यंजकता के कारण ये गीत प्रसिद्ध हुए हैं।

यद्यपि भ्रमरगीत परंपरा का मूल स्रोत तो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के 46वें और 47वें अध्याय में है, पर मध्यकालीन जनभाषाओं की काव्यपरंपरा में इसका सूत्रपात सबसे पहले सूरदास ने ही किया था।

भागवत से प्रेरणा लेने के बावजूद सूरदास ने भ्रमरगीत में अपनी ओर से नयी-नयी उद्भावनाएँ की हैं, नये प्रसंग जोड़े हैं और मौलिक काव्यप्रतिभा का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भागवत में उद्धव को श्रीकृष्ण ने सिर्फ यही काम सौंपा था कि ब्रजवासियों को सान्त्वना दे आओ, धैर्य धारण करने का संदेश दे आओ। उद्धव के ज्ञानमार्गी होने, उनके ज्ञानगर्व को दूर करने के अभिप्राय से उन्हें गोकुल भेजने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यह नयी मौलिक सूझ सूरदास की है। गोचर लौकिक जीवन की रूपविभूति, लीला, दैनंदिन जीवन के क्रियाकलाप, पारिवारिक-सामाजिक संबंधों के राग-विराग आदि की महत्ता स्थापित कर सूरदास सगुणभक्ति का औचित्य प्रतिपादित करते हैं। गोकुल के ग्रामीणजनों के साथ बचपन से ही श्रीकृष्ण रहते आ रहे थे। इन संबंधों को माया अथवा मिथ्या मानने की भावना सूरकाव्य में कहीं भी प्रगट नहीं होती। इस तरह सूरदास का उद्देश्य है निर्गुण भक्ति का खंडन और गृहस्थ जनों की सगुण सांसारिक प्रेमभावना का भक्ति के रूप में मंडन।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में गोपियों का तर्कवितर्क, वाद-विवाद, खरी-खोटी, जलीकटी सुनाना आदि है ही नहीं। यह सब सूरदास का कमाल है। गाँव की ये लड़कियाँ कृष्ण के प्रति तन्मयता के कारण, वियोगव्यथा के कारण, अश्रुपंकिल भावुकता के कारण ही सिर्फ याद करने योग्य नहीं है। वे अपना अधिकार माँग रही हैं, गुस्सा और क्षोभ प्रगट कर रही हैं, उद्धव को खरीखोटी सुना रही हैं और अपने प्रेम को सुसंगत साबित करने के लिए तर्कशीलता, उक्तिवैचित्र्य और विदग्धता का भी परिचय देती हैं।

तीसरी बात यह कि श्रीमद्भागवत में राधा का कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं है। सूरदास के यहाँ यह राधा जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के माध्यम से आयी है; पर इस राधा की प्रेममूर्ति के निर्माण में सूरदास की प्रतिभा काफी कुछ नये तत्वों का समावेश करती है।

10.6 सूर का प्रकृति वर्णन

महाकवि सूरदास यह बताते हुए थकते नहीं कि वृन्दावन की धूल भी धन्य है। ब्रज और वृन्दावन की नैसर्गिक शोभा के समक्ष स्वर्ग और उसकी संपदा भी तुच्छ है। यहाँ जूठन खाकर रहना भी श्रेयस्कर है। ब्रजक्षेत्र की यह मुक्त पद्धति जिसमें सुखद छाया वाली वनस्थली है, सघन कुंजों की भरमार है, जमुना नदी है, गोचारण के लिए अंतहीन आकाश तक फैला चरागाह है। चूँकि ब्रज की इस प्राकृतिक सुषमा और खेत खलिहान के बीच सूर के प्रिय सखा और आराध्य कृष्ण की लीला हुई है - अत: कवि और कथागायक के नाते वे प्रकृति का दामन कभी नहीं छोड़ते। कृषिजीवी और पशुपालक ग्रामलोक के रूप में वृंदावन सूर का अत्यंत प्रिय काव्य-विषय है। मथुरा एक नगर है और गाकुल एक गाँव है। सूरदास इन दोनों का कंट्रास्ट भी बार-बार उभारते हैं - भिन्न-भिन्न संदर्भों में इस प्रतिलोम को पूरी तरह उद्घाटित करते हैं। मथुरा वह शासन केंद्र है जहाँ कंस का अत्याचार है, जहाँ अक्रूर और उद्धव रहते हैं, जहाँ कंस की दासी कुब्जा के प्रेमपाश में बंधकर कृष्ण का पतन हुआ है और वहाँ के ऐश्वर्य में डूबकर कृष्ण गोकुल के सीधेसादे लोगों के निश्चल प्रेम को भूल गये हैं। इस तरह मथुरा के बरक्स ब्रज की प्रकृति है, ब्रज का ग्रामलोक है और ब्रज का स्वच्छंद उन्मुक्त नैसर्गिक जीवन है।

शहर बनाम गाँव का यह द्वन्द्व सूरकाव्य में अनेक स्तरों पर उभरा है इस समस्या को लेकर हिन्दी समालोचना में सबसे पहले मैनेजर पांडेय ने ही लोगों का ध्यान खींचा। उन्होंने लिखा भी है - इस **बात की ओर शायद ही किसी का ध्यान गया हो कि सूर की कविता में गाँव से शहर के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भी है। यहाँ गाँव और शहर के बीच द्वन्द्व अनेक स्तरों पर है।** सबसे पहले सगुण से

NMDC-066

निर्गुण, ज्ञान और योग के द्वन्द्व में शहर का विरोध व्यक्त हुआ है। ऐसा लगता है कि उस समय निर्गुण, ज्ञान और योग का अधिक प्रचार शहरों में था और सगुण का गाँवों में। भ्रमरगीत में बार-बार निर्गुण, ज्ञान और योग को नगर से जोड़ा गया है। उद्धव से निर्गुण और योग का उपदेश सुनकर गोपियाँ कहती हैं - 'यह प्रिय कथा नगर नारिन सौं, कहहिं जहां कछु पावहिं।' सूर के अनुसार योग, ज्ञान और निर्गुण का केंद्र है काशी। भ्रमरगीत में बार-बार काशी को निर्गुण, ज्ञान और योग का गढ़ कहा गया है। उद्धव से गोपियाँ कहती हैं - 'यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िया सै कासी' या फिर 'जे गाहक निरगुन के ऊधो, ते सब बसत ईसपुर कासी।' सरल-सीधे गाँव वालों को सहज-स्वाभाविक सगुण भक्ति प्रिय है - 'गोकुल सबै गोपाल उपासी।' गोपियों को योग की बातें 'कपट कथा' लगती हैं, गाँव की रीतिनीत के ठीक विपरीत। वे उद्धव से पूछती हैं - 'मधुकर! कौन गाँव की रीति? ब्रज जुवतिन को जोग कथा तुम कहत सबै विपरीत।'

शहर और गाँव के बीच नैतिक द्वन्द्व भी है। सूर के अनुसार गाँव के जीवन और व्यवहार में सहजता, ईमानदारी और सच्चाई है, जबकि शहर अनैतिकता, छल-प्रपंच और चालाकी का गढ़ है। गाँव की गोपियों की कथा शुद्ध प्रेमकथा है और शहरी प्रेम कपटकथा है। ब्रजवासी जिस शहर से परिचित हैं वह मथुरा है - सत्ता और शक्ति का केंद्र, अत्याचार और शोषण का गढ़, छल और प्रपंच का प्रतीक। वह मायानगरी है, गोकुल और गोपियों का सर्वस्व हरण करने वाली। मथुरा गोपियों के लिए कंस, अक्रूर और उद्धव का ही नहीं, कुब्जा का भी नगर है।

ब्रजवासी लोगों की दृष्टि में मथुरा काजर की कोठरी है-

> वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
> तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भंवारे।

दूसरी तरफ ब्रजवासी बुद्धिहीन, निपट सरल लोग हैं-

> हम अहीरि मतिहीन बापुरी, हटकत हूँ हठि करत मिताई।
> वे नागर मथुरा निरमोही, अंग अंग भरे कपट चतुराई।

शहर और गाँव के इस द्वन्द्व की चेतना के संदर्भ में सूर की सहानुभूति निःसंदिग्ध रूप से गाँव के साथ है। सूर की गोपियों को बार-बार प्रतीति होती है कि श्रीकृष्ण अभी भी ब्रज के निर्धन प्रेमियों द्वारा भेंटस्वरूप दी गई घुंघचो की माला से ही आकृष्ट होंगे, यद्यपि वे महाराज हो गये हैं, मोती और लाल की गिनती नहीं है; उनके पास अपार संपत्ति हो गई है-

> यद्यपि महाराज सुख-संपत्ति कौन गनै मोतिन अरु लालैं।
> तदपि सूर आकरषि लियो मन उर घुंघचिन ही मालैं।

सूर के काव्य में प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित हुई है; आलम्बन के रूप में प्रकृति काव्य का विषय बनकर नहीं आई है - काव्यशास्त्रीय दृष्टि से निकाले गये इन निष्कर्षों के आधार पर हम सूरकाव्य मे चित्रित प्रकृति को सही संदर्भों में समझ ही नहीं पाते। प्रश्न यह है कि प्रकृति स्वयं आलम्बन है या उद्दीपन?

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में फणीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन के साथ पूर्णिया जिले के एक अंचल विशेष के चित्रण को लेकर आंचलिकता पर खूब बहस हुई। इसके पहले वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में चित्रित बुंदेलखंड को लेकर स्थानीय रंग की खूब चर्चा हुई।

भक्ति आंदोलन के रचनाकारों में सूरदास की अद्वितीय महत्ता के कारणों की खोज में ब्रजप्रदेश की प्रकृति और लोकसंस्कृति के अन्योन्याश्रित सबंध को अक्सर दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है। सूर की सौंदर्यानुभूति और कलात्मक स्तर पर उसकी प्रस्तुति के मूल में बैठा हुआ यह गहरा ब्रज प्रेम, यह गहरी

HMDC-066

आंचलिकता और प्रकृति के मुक्त प्रांगण में पल्लवित गोप-गोपिका तथा राधाकृष्ण के परस्पर संबंध एक जटिल प्रकृति चित्रों में अंतर्निहित भावानुभूति और राग-संवेदना को भी नहीं समझा जा सकता। यह एक समग्र सौंदर्यानुभूति है - इसमें सिर्फ कृष्णकथा नहीं है, सिर्फ स्त्री-पुरुष संबंध नहीं है, सिर्फ बाल-लीला और वात्सल्य नहीं है - यहाँ प्रकृति की गोद ब्रज के लोकतत्वों से सरोबार मानव-जीवन है।

प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा का एक निबंध 'सूरकाव्य का पुनर्मूल्यांकन' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें प्रकृति चित्रण के प्रश्न को एक व्यापक संदर्भ में उठाया गया है। इसी निबंध में उनकी एक मौलिक विवेचना है। उनका कहना है कि सूर की काव्यचेतना का प्रकृति से पूर्ण तादात्म्य है। उनकी एक स्थापना यह भी है कि ललित, भैरव, बिलावल आदि रागों में उन्होंने जब भी कान्ह कुंवर को जगाया है, ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रकृति के ही जागरण का चित्रण कर रहे हैं। सूर की समस्त रचना-प्रक्रिया, उनका काव्य और संगीत प्रकृति की अभिव्यक्ति बन गया है और यहाँ वे निस्संदेह तुलसीदास से आगे हैं। सूर का सौंदर्यबोध प्रकृतिसौंदर्य से ही अनुप्रेरित है। जहाँ उन्होंने अपने सांस्कृतिक चित्रण में लोकपक्ष को प्रधानता दी है, वहाँ प्रकृति के चित्रण में भी। उनका प्रकृति चित्रण अभिजात वर्ग का कलात्मक व्यापार नहीं है और न उसकी भावभूमि सामंती महलों के वातायन से ही दिखाई देती है।

प्रकृति से ब्रजप्रदेश के लोगों का सीधा संबंध है। कोयल से गोपियाँ कहती हैं - हे कोयल! अपनी यह मधुर वाणी तू कृष्ण को मथुरा जाकर सुना आ। उन्हें बता आओ कि ब्रज के सभी वनों में बसन्त आ गया है- 'कोयल हरि को बोल सुनाव।' एक दूसरे पद में गोपियाँ चातक से कहती हैं - हे पपीहे! ऊँची टेर सुनाकर कृष्ण को हमारी याद दिला दो - 'कराव रे, सारंग! स्यामहिं सुरति कराव।' प्रचलित विश्वास यह है कि कौआ बोलकर जब उड़ जाता है तो प्रिय के आगमन की सूचना होती है। इसी विश्वास के संदर्भ में गोपियाँ कौए से कहती हैं - हे कौए! तुम उड़ क्यों नहीं जाते - 'तौ तू उड़ि न जाए रे काग! बादलों से इन गोपियों का इतना घरेलू ढंग का गहरा संबंध है कि उनके पाँव पड़ती हैं और कहती हैं हमारी एक चिट्ठी पहुँचा देना -

पा लागौं बीर बटाऊ। कौन देस तें आए।
इतनी पतिया मेरी दीजौ जहाँ स्याम घन छाए।

बादलों को संबोधित अनेक पद हैं। एक पद में गोपियाँ बादलों पर बलिहारी जाती हैं और उनसे कहती हैं कि तुम्हारे रूप के समान ही कृष्णा हैं। वे समुद्र के तटवर्ती क्षेत्र - द्वारिका गये हैं। बादल विरहिनियों का संदेश उन्हें दे दे - 'बलैया लैहौं, हो बीर बादर।'

वर्षा ऋतु में बदली हुई प्रकृति के रूपरंग का अनेक प्रकार से सूरदास ने वर्णन किया है। एक सुदीर्घ वर्णनात्मक पद है जिसमें बताया गया है कि अनेक रंगों के बादल मनोहर वेश धारण कर आ गये हैं। इस समय आकाश की शोभा पहले की तुलना में बहुत अच्छी हो गई है। आकाश में बगुले उड़ रहे हैं। तोतों का झुंड सुशोभित है। चातक और मोर अपनी रट लगाये हुए हैं। बादल जोर से गरज रहे हैं और बिजली चमक रही है। उन्हें देखकर गोपियों के मनों में अभिलाषाएं जाग्रत हो गई हैं। पृथ्वी के शरीर पर तृण-रूपी रोंगटे खड़े हो गये हैं मानो वह अपने प्रिय के आगमन पर हर्षित हो रही है। पेड़ों से लताएँ लिपट गई हैं मानो कोई वियोगिनी अपने पति का आलिंगन कर रही हो। हंस, कोयल, तोता, मैना, और भौरों का समूह गुंजार कर नाना प्रकार से अपने बोल सुना रहा है-

ऐसे भाई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधव जू आवै री।
बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर वेष।
यहि समय यह गगन सोभा सबन तें सुबिसेष।
उड़त बक, सुक वृन्द राजत, रटत चातक मोर।।
बहुत भाँति चित हित रुचि बाढ़त दामिनी घनघोर।
धरनि तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।।

HMDC-066

और द्रुमबल्ली वियोगिनि मिलीं पति पहिचानि।
हंस, पिक, सुक, सारिका, अलिपुंज नाना नाद।
मुदित मंगल मेघ बरसत, गत विहग विषाद।।

ब्रज प्रदेश के मुक्त प्रांगण वाली यह प्रकृति वियोग में दुःखदायक हो गई हैं। कृष्ण के साथ संयोग के क्षणों की यादें ताजा हो आती हैं। एक गोपी अपनी सखी से कह रही है- मै फूल बीनने नहीं जाऊँगी। भला श्रीकृष्ण के बिना फूलों को मैं कैसे बीन सकती हूँ? हे सखि! मुझे भगवान की दुहाई है कि मैं झूठ बोल बोलूँ। मुझे ये फूल त्रिशूल के समान दुख देने वाले लगते हैं। ढाक के लाल फूल मुझे अग्नि ज्वाला के समान दाहक लगते हैं। ये गिरते हुए फूल अंगार जैसे झड़ रहे हैं -

फूल बिनन नहिं जाऊँ सखी री। हरि बिन कैसे बीनौं फूल?
सुन री सखी! मोहिं रामदोहाई फूल लगत तिरसूल।।
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल झार से लागत झरि झरि पड़त अँगार।।

गोपाल के बिना गोपियों को ब्रजक्षेत्र के तरु-कुंज शत्रु के समान प्रतीत होते हैं - सौत और बैरिन के समान लगते हैं - बिन गुपाल बैरिन भई कुंजै।

संस्कृत काव्यशास्त्र के आलोचनात्मक मानदंडों पर आधारित शास्त्रीय समालोचना में सूर के प्रकृति चित्रों को उद्दीपन के रूप में और आलंकारिक वर्णनों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जरूरत इस बात की है कि आलोचना की इन रूढ़ियों से मुक्त होकर सूर के प्राकृतिक वर्णन की विवेचना की जाए।

10.7 सारांश

सूर काव्य प्रेमाभक्ति से ओतप्रोत हैं। कृष्ण की बाललीला का चित्रण हो या रासलीला का, सर्वत्र प्रेम का ही साम्राज्य है। बाल मनोविज्ञान की गहरी पकड़ सूरदास को थी। उन्होंने बाल चेष्टाओं का बारीकी से चित्रण किया है। यशोदा और नंद का कृष्ण के प्रति वात्सल्य सबकी आँखें नम कर देता है। यह चित्रण इतना स्वाभाविक है कि सारे कार्यव्यापारों से हम तुरंत तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। सूर ने शृंगार और भक्ति को एक साथ मिलाकर शृंगार को गरिमा प्रदान की है और भक्ति को लोकोन्मुख बनाया है सूर ने श्रीमद्‌भागवत में वर्णित कृष्ण की कथा को दुहराया नहीं है बल्कि प्रेमाभक्ति के रंग में उसे पूरी तरह रंग कर प्रस्तुत किया है; नए प्रसंग खड़े किंए हैं; नवीन चित्रण किए हैं। सूर की राधा का सृजन सूर ने ही किया है। यह सूर की मौलिक उद्‌भावना है। इसी प्रकार भ्रमरगीत सूर की मौलिक कल्पना हैं यह उच्च कोटि का मर्मस्पर्शी काव्य है। इसे सूरसागर का रत्न भी कहा गया है। सूर के प्रकृति चित्रण में पूरा ब्रज निखर कर सामने आता है। इसके जरिए ग्रामीण ब्रज प्रदेश के व्यक्तित्व से परिचित होने का मौका मिलता है।

10.8 अभ्यास/प्रश्न

(1) सूर द्वारा चित्रित स्वच्छंद प्रेम पर प्रकाश डालिए।
(2) "शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक किसी कवि की नहीं।" सूरदास के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस कथन से आप कहाँ तक सहमत/असहमत हैं।
(3) सूर के प्रकृति वर्णन की विशिष्टता बताइए।

इकाई 11 मीरा का काव्य और समाज

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 मीरा कालीन रूढ़िगत सामंती समाज और नारी पराधीनता
  11.2.1 वर्णव्यवस्था
  11.2.2 महिलाओं की स्थिति
11.3 मीरा का सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह
11.4 मीरा का जीवन संघर्ष
11.5 कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति
11.6 मीरा के गिरधर नागर
11.7 मीरा का विरह वर्णन
11.8 सारांश
11.9 अभ्यास/प्रश्न

11.0 उद्देश्य

सगुण भक्ति के अन्तर्गत आपने सूरदास की कविता का अध्ययन किया। इस इकाई में हम मीरा के काव्य और समाज का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़ने के बाद आप:

- मीराकालीन समाज और नारी पराधीनता का उल्लेख कर सकेंगे ;
- मीरा के सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह से परिचित हो सकेंगे ;
- मीरा के जीवन संघर्ष को जान सकेंगे ;
- कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति के स्वरूप को पहचान सकेंगे ;

11.1 प्रस्तावना

मीरा पन्द्रहवीं शताब्दी में संपूर्ण भारत में व्यापक रूप से प्रसारित वैष्णव भक्ति आंदोलन की मूल्यवान कड़ी है। उनके काव्य में भक्ति आंदोलन की प्रगतिशील अन्तर्वस्तु अपनी समग्रता में उद्घाटित है। इसे हम वर्ण व्यवस्था और नारी पराधीनता का संरक्षण करने वाले धर्म, शास्त्र और सामाजिक विधि-विधान के विरोध के रूप में देखते हैं। वस्तुत: मध्यकालीन समाज में धर्म ने सामान्य जनता की मुक्ति के हित में काम न करते हुए घोर शुचितावाद और बाह्याचार को बढ़ावा देकर सामाजिक वैषम्य को और गहरा किया। धर्म, शास्त्र, पुराण आदि ने निम्न वर्णों तथा प्रत्येक वर्ण और वय की स्त्री के लिए कुलीन जाति के पुरूषों की सेवा और अभ्यर्थना को सुनिश्चित करने वाले कर्म, भाग्यफल और पुनर्जन्म विषयक सिद्धान्तों का निर्माण किया। इस प्रकार उन शास्त्रों ने वर्ण व्यवस्था का सबसे मजबूत दार्शनिक आधार तैयार किया। यही कारण है कि मनुष्य और मनुष्य में किसी प्रकार का भेद न मानने वाले भक्ति आंदोलन के लिए ऐसे धर्म और इसकी समर्थक प्रणालियों का विरोध अनिवार्य हो गया। भक्ति आंदोलन का मुख्य आधार धार्मिक विचार या दर्शन नहीं था। इसके भीतर वे सभी सामाजिक शक्तियां सक्रिय थीं जो वर्ण विभाजित सामंती समाज में मनुष्य की मुक्ति के मूल्यवान सवालों के प्रति केन्द्रित थीं। बौद्ध, जैन धर्मों के साथ-साथ सिद्ध संतों, दक्षिण के आलवार भक्तों तथा रामानुजाचार्य, रामानन्द, मध्वाचार्य, नामदेव और चैतन्य महाप्रभु आदि महान संतों ने समय-समय पर इस ब्राह्मण-पुरोहित वर्चस्व वाली वर्ण व्यवस्था से कठिन संघर्ष किया है। कबीर, रैदास, तुलसी, जायसी और मीरा जैसे भक्त कवियों को मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों के विरोध की क्रांतिकारी विरासत इन्हीं आचार्यों और संतकवियों से प्राप्त हुई।

भक्ति युग को व्यापक लोकजागरण का युग कहा जाता है। भक्ति काव्य में मध्ययुगीन सामंती जड़ताजों के विरोध के साथ-साथ समाज और संस्कृति के पुनर्निर्माण की चेतना विद्यमान है। भक्त कवियों की

NMDC-066

सबसे बड़ी शक्ति ईश्वर की सर्वव्यापकता व सर्वसुलभता की प्रतिष्ठा कर सामान्य जन में आत्मगौरव का बोध जगाना तथा उनकी मुक्ति आकांक्षा को प्रेरित करना है। इसके लिए उन्होंने जनता को सामंती समाज के धार्मिक-सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति सचेत किया। उनके द्वारा विकसित ईश्वर के सगुण-निर्गुण स्वरूप में सामान्य जन के विषमतापूर्ण जीवन के प्रति गहरी करूणा और इस विषमता से मुक्ति का प्रयत्न था। इसलिए भक्त कवियों का यह ईश्वर स्वरूप तत्कालीन समाज के दलित-वंचित वर्गों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और भक्तिकाव्य ने व्यापक आंदोलन का रूप ले लिया। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि मीरा की कृष्ण भक्ति में भी उनकी वैयक्तिक मुक्ति का प्रयत्न मात्र नहीं है, अपितु उसमें भी अपने समय के अमानवीय अन्तर्विरोधों की पहचान तथा उनसे संघर्ष का पक्ष सबल है। एक ओर तो उनके काव्य में सगुण-निर्गुण काव्य धारा की सम्पूर्ण परंपरा अपने सर्वश्रेष्ठ के साथ समाहित है तो दूसरी ओर वे कबीर, जायसी और तुलसी जैसे कवियों से और आगे बढ़कर मध्ययुगीन समाज में नारी की दारूण स्थिति के प्रति प्रश्न उठाकर भक्तिकाव्य धारा में नारी मुक्ति चेतना का महत्वपूर्ण पक्ष जोड़ती हुई उसकी सामाजिक भुमिका को पूरा करती है। अन्य भक्त कवियों की तुलना में मीरा ने कम लिखा है किन्तु जो लिखा है उसमें उनके कठिन जीवन संघर्ष के साथ गहरी लोकोन्मुखता और भविष्य दृष्टि है। वृन्दावन-गोकुल जैसे नैतिक मानवीय मूल्यों से सजे हुए समाज का वे केवल स्वप्न ही नहीं देखती, अपितु उसके लिए संघर्ष भी करती है। राणा और छद्म कुलमर्यादा का पोषण करने वाले राणा कुल और समाज का विरोध करती हुई मीरा राजसत्ता के विरोध के साथ-साथ पुरूषसत्तात्मक सामंती समाज का विरोध करती है। अलग-अलग भागों और उपभागों में हम इन्हीं पक्षों का अध्ययन करेंगे।

11.2 मीराकालीन रूढ़िगत सामंती समाज और नारी पराधीनता

मीरा का समय सन् 1498 से 1545 तक माना जाता है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध राठौर राजा जोधा जी के पुत्र राव दूदा जी की पौत्री तथा राव रत्न सिंह की पुत्री थीं। उनका विवाह मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ हुआ था। मीरा के समय में दिल्ली में लोदीवंश अपनी जड़ें जमा रहा था। इब्राहिम लोदी के शासनकाल तक उसकी निरंकुशता के कारण लोदियों की राजनैतिक शक्ति बिखरने लगी थी। सन् 1526 में बाबर ने इब्राहिम लोदी को पराजित किया और उसके द्वारा मुगल सल्तनत की नींव पड़ी। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी से छिटपुट आक्रमणों और लूटपाट के जरिये भारत में प्रवेश करने वाले अरबों, तुर्कों और अफगानों के द्वारा भारत में इस्लाम धर्म का प्रवेश हुआ। मुगल सत्ता के केन्द्र में मजबूत होने के साथ ही इस्लाम को महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति प्राप्त होती गयी। राजसत्ता और धर्माचार्यों द्वारा प्रचारित इस्लाम में हिन्दू धर्म के समान ही कट्टरता और भेदभावपरकता थी। इस्लामी धर्माचार्यों की अपेक्षा सूफी संतों ने हिन्दू-मुस्लिम जनता से ज्यादा निकटता प्राप्त की। वे इस्लाम के मनुष्य और मनुष्य के बीच बराबरी के संबंध के कायल तथा बाह्याचारों और धर्म के रूढ़िवादी रूप के विरोधी थे। मनुष्य और ईश्वर में कोई भेद न मानते हुए सांसारिकता और सत्ता से निरपेक्ष होने के बावजूद वे धर्म और राजनीति के अमानवीय रूपों के तीव्र आलोचक थे। उनका जीवन और सिद्धांत मनुष्य और मनुष्य में समानता के विश्वास पर आधारित था। यही कारण था कि प्रायः ये संत मध्ययुगीन भारत के किसान-कारीगर वर्गों के गहरे संपर्क में थे। शासक वर्गों से अपने किसी हित या महत्वाकांक्षा के कारण जुड़ने के लोभ से परे होने के कारण ही ये समाज के धार्मिक-सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति आक्रामक थे। सूफी संतों की उल्माओं या राजनैतिक आकाओं के मुंह पर खरी-खरी सुनाने के अनेक किस्से लोक में आज भी प्रचलित हैं। भक्ति आंदोलन पर इन सूफी संतों के क्रांतिकारी विचारों का भी प्रभाव पड़ा है। कबीर, दादू, रज्जब तथा जायसी आदि संत कवियों पर यह प्रभाव देखा जा सकता है। मीरा की भक्ति में भी सूफियों की सी अनुरक्ति की दृढ़ता और निर्भय तन्मयता देखी जा सकती है।

11.2.1 वर्ण व्यवस्था

इस्लाम के बढ़ते प्रभाव के कारण वर्ण विभाजित भारतीय समाज में नयी जटिलतायें पैदा हो रही थीं। उच्चकुलीन वर्णों को अपने वंश और रक्त की शुचिता की चिंता थी।

ब्राह्मणों ने, जिन्होंने प्राचीन काल से ही स्वयं को देवताओं के समकक्ष और वर्णाश्रम धर्म का रक्षक घोषित कर रखा था, इन नयी परिस्थितियों में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए जातिभेदपरक अधिक कठोर

HMDC-066

नियमों और विधिनिषेधों की रचना की। वर्णव्यवस्था की अमानवीय कठोरता से त्रस्त निम्न जातियां इस्लाम के मनुष्य और मनुष्य के बीच समानतामूलक विचारों से आकृष्ट हो धर्मान्तरण की ओर चली गई। इस प्रकार मुस्लिम धर्म ग्रहण करने वाली अधिकांश जातियां कपड़ा बुनने वालों, चमड़े का काम करने वाले कारीगर, शिल्पी वर्ग की थीं, जिन्हें हिन्दू समाज में अस्पृश्य समझा जाता था। हालांकि मुस्लमान हो जाने के बावजूद इन जातियों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। उन्हें अब भी गुलामों की तरह प्रभुवर्ग की सेवा करनी थी। निम्न जातियों को शिक्षा प्राप्त करने या स्वतंत्र संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था। प्राचीन काल से ही शिक्षा अध्यापक होते थे। धार्मिक आचार-विचार और कर्मकाण्ड संबंधी निर्देश इस शिक्षा का महत्वपूर्ण भाग थे। इस प्रकार शिक्षा का संबंध भी शूद्रों को हीन स्थिति में बनाये रखने वाली जाति व्यवस्था से था। मात्र शिक्षा ही नहीं, अपितु न्याय व्यवस्था और सेना का कार्य भी उच्चवर्ग व प्रभुत्वशाली वर्गों के आर्थिक-सामाजिक हितों की रक्षा का था। समस्त उत्पादन का बोझ निचली जातियों के कंधों पर था तथा उच्चवर्ग के राजा, सामंत, सुल्तान आदि इसके उपभाग के लिए थे। मुगल शासकों को अपने उपभोग के लिए ज्यादा कलात्मक विलासिता वस्तुयें अपेक्षित थीं। इसके लिए बाहर से कारीगर, शिल्पी, सैनिक आदि आये। इन तमाम जातियों के प्रवेश से भारतीय समाज में जातिव्यवस्था संबंधी नयी उलझनें पैदा हुई। धर्म की प्रकृति संकीर्ण होती गई तथा समाज में रूढ़िवादिता का जोर बढ़ा। जन्म, कर्म, नियति, भाग्यफल, पुनर्जन्म, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र विषयक धारणाओं ने हिन्दू समाज के लिए नयी जकड़ने पैदा कीं। धर्म की इन्हीं अनवरत सीमित होती हुई भूमिकाओं की पहचान करते हुए भक्ति आंदोलन सामने आया। जिस ईश्वर को हिन्दू-मुस्लिम धर्माचार्यों ने वंचित-विपन्न जनता के लिए आंतक बना कर प्रस्तुत किया था उसी ईश्वर को सूफी संतों और निर्गुण-सगुण भक्तों ने समूची वर्ण-व्यवस्था और स्त्री पराधीनता की सामंती रूढ़ियों को चुनौती देने वाली शक्ति के रूप में विकसित किया।

11.2.2 महिलाओं की स्थिति

वस्तुत: सामंती समाज में शुद्र और स्त्री के दमन का अनिवार्य संबंध श्रम के शोषण और संपत्ति के एकाधिकार से है। इस समाज में स्त्री पराधीनता की जड़ें बहुत गहरी थीं। शुद्र के शोषण के पीछे तो वर्ण व्यवस्था का शुचितावाद काम कर रहा था, किन्तु स्त्री चाहे उच्च वर्ण की हो या निम्न वर्ण की सर्वत्र पराधीन और शोषित थी। वर्णव्यवस्था के सूत्रधार मनु ने प्रत्येक वय की स्त्री की पराधीनता को समाज के लिए अनिवार्य बताया। मर्तृहरि ने स्त्री को पुरूष के पतन और विनाश के ओर ले जाने वाली घोषित किया। पुरूषसत्तात्मकता की इस निरंतर मजबूत होती हुई प्रवृत्ति का ही प्रभाव था कि कबीर जैसे संत कवि, जो वर्णव्यवस्था के कटु आलोचक थे 'स्त्री' के संबंध में प्राय: ऐसे सामंती अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं थे। ध्यान देने की बात है कि 'स्त्री' को माया स्वरूप मानते हुए उन्होंने भर्तृहरि की धारणा का ही समर्थन किया। वैदिक युग या उसके बाद बौद्धकाल तक महिलाओं की शिक्षा-दीक्षा के उल्लेख मिलते हैं, किंतु यह स्थिति प्राय: उन स्त्रियों तक सीमित है जो उच्चवंशीय थीं। प्राय: ब्राह्मण स्त्रियों को विदुषी, उपाध्याया या आचार्य होने का गौरव प्राप्त था। वैदों, संहिताओं, धर्मसूत्रों या पुराणों में स्त्री स्वाधीनता का सहज समर्थन नहीं है। महाभारत में भी स्त्री की स्वतंत्रता का विरोध किया गया है। इसी प्रकार की स्त्री निंदा रामायण में भी मिलती है। उसमें स्त्री को धर्महीन, चपल, तीक्षण तथा भेदकर बताया गया है। बौद्धसाहित्य भी स्त्री के प्रति सहज और उदार नहीं है। इस प्रकार पुरूष वर्चस्ववादी इन विचारधाराओं की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इन्हें समाज के भीतर से चुनौती मिलना कठिन था। प्रथम शताब्दी आते-आते उच्च वर्ण में भी कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा और उपनयन प्रथा का अंत हो गया। यही नहीं प्राय: इसी समय से कन्या के अल्प आयु में विवाह की प्रथा भी जोर पकड़ती दिखाई देती है। मध्यकाल में इस्लाम के आगमन के पश्चात् की राजनैतिक उथल-पुथल ने स्त्रियों के लिए ज्यादा कठिन परिस्थितियों का निर्माण किया। राजपूत वंश में जौहर आदि की प्रथायें वंश की कुलीनता की रक्षा के लिए अनिवार्य हो गयी थीं। उच्च वर्ग की या राजपरिवारों की स्त्रियों का जीवन खाने-पहनने और आराम से रहने की दृष्टि से ज्यादा सुविधाजनक था, किन्तु उन्हें बाह्य समाज में घुलने-मिलने के अवसर नहीं थे। पर्दा उनके लिए अनिवार्य था। यह युग किसी भी स्थिति में स्त्री की स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति के प्रति अनुकूल नहीं था। ऐसे में मीरा की स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति इस समूची सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह का एक प्रखर बिगुल थी

HMDC-066

11.3 मीरा का सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह

मीरा राजस्थान के राठौर राजवंश की पुत्रवधू तथा प्रसिद्ध सिसोदियावंश की कुलवधू थीं। मध्यकालीन राजपूत क्षत्रिय वंश राजाओं, सामतों और सैनिकों का वंश था। इनके अभ्युदयकाल में ब्राह्मणों द्वारा इनकी वीरता और शौर्य पर आधारित वंशावलियों की खोज की गयी। ये वंश युद्ध को अपने जीवन का सबसे बड़ा धर्म समझते थे। इनके समाज में सत्ता और संपत्ति से जुड़ी हुई मैत्री और बैर इतने प्रचलित थे कि इनके पास युद्ध को छोड़कर जीवन के किसी स्वाभाविक विधान के लिए प्रायः कोई गुंजाइश नहीं हुआ करती थी। उनके कुटुंब इस युद्ध की छाया में पलते थे। परस्पर शत्रुता के निरंतर दबाव में रहने के कारण यह समाज अपनी स्त्रियों के प्रति बहुत रूढ़िवादी और अनुदार था। इनके वंश की स्त्रियों पर पिता और पति, दोनों के कुलों की मर्यादा का भार माना जाता था। अल्पायु में विवाह के अतिरिक्त विधवा के लिए सती हो जाने का विधान भी इसी मर्यादा की रक्षा के लिए था। कुल की मर्यादा इतनी संवेदनशील हुआ करती थी कि स्त्री द्वारा अपनी इच्छा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र से इसके टूट जाने का खतरा था। इन्हीं कारणों से इन परिवारों की स्त्रियों पर अनेक बंदिशें लगायी जाती थीं। पिता या पति के घर में उसका स्थान अन्तःपुर था। उनका संवाद-व्यवहार या साक्षात्कार परिवार के पिता भाई, पति जैसे पुरूषों तथा परियार की स्त्रियों या दासियों तक सीमित था। लज्जाशीलता, विनय और आज्ञाकारिता उसका धर्म थे। निजी इच्छाओं के त्याग और सहनशीलता आदि से उसकी महिमा आंकी जाती थी। उनके पतिव्रत्य, चरित्र और आचरण संबंधी विधि निषेध बड़े कठोर थे तथा इनमें किसी भी परिस्थिति में रियायत की संभावना नहीं थी।

मीरा को यही रूढ़िग्रस्त सामंती समाज मिला था। मीरा के पति कुंवर भोजराज तथा श्वसुर महाराणा सांगा की मृत्यु के बाद राणा विक्रमाजीत उनका अभिवावक बन बैठा। मीरा की कृष्णभक्ति और साधु संगति जैसे गतिविधियों ने उसे कुपित किया और वह मीरा के प्रति अमानवीयता की हद तक निर्मम होता गया। उसने मीरा के बाह्य समाज से मिलने-जुलने पर अनेक प्रकार से रोक लगाई। मीरा के पदों में इस राणा द्वारा उन पर पहरे बैठवाने और ताले जड़वा देने का उल्लेख आया है, किन्तु मीरा एक निर्भय स्वाधीनचेता स्त्री थी। मीरा ने अडिग रह कर राणा के अत्याचारों का सामना किया। मीरा की स्वाधीनता से राणा का पूरा नियंत्रण तंत्र अस्त-व्यस्त हो उठा था। राणाकुल की स्त्रियों ने भी मीरा की स्वाधीनता को स्वच्छन्दता माना और राणा के मीरा विरोध में सहायक हुई। मीरा के पदों में सास-ननद द्वारा प्रताड़ित होने के संदर्भ भी आये हैं। मीरा की भक्ति का सबसे बड़ा बाधक राणा विक्रमाजीत था। इसीलिए मीरा ने अपने पदों में सबसे ज्यादा इस राणा के अत्याचारों का वर्णन किया है। यह राणा विधवा मीरा का संरक्षक होने के साथ-साथ शासक भी था। उसके पास धन और सत्ता का बल तो था ही, इसके अतिरिक्त पुरूष होने के कारण उसे स्वाभाविक रूप से समाज में विशेष अधिकार प्राप्त था। रूढ़िवादी सामंती समाज में राणा के अत्याचारों का समर्थन था। इस प्रकार राणा ने भगवद्भक्ति को जीवन का एक मात्र उद्देश्य मानने वाली मीरा को अनेक प्रकार से आतंकित किया। उसके प्रचार तंत्र ने मीरा के बारे में समाज में अपवाद भी प्रचारित किये, किन्तु मीरा इससे विचलित नहीं हुई, बल्कि कृष्ण के प्रति अपनी निष्ठा और समर्पण में और दृढ़ होती गई। मीरा के पदों में राणा पुरूषवर्चस्ववादी सामंती व्यवस्था का सबसे निरंकुश, अमानवीय और रूढ़िवादी चरित्र है। मीरा स्वरचित पदों को अपनी साधु मंडली में गाती थीं। वस्तुतः कृष्ण और कृष्ण भक्त ही मीरा का सबसे बड़ा संबल थे। मीरा के पदों की लोकप्रियता बताती है कि सामंती नैतिकताओं का संरक्षक राणाकुल और रूढ़िवादी समाज उनका कितना ही बड़ा विरोधी क्यों न रहा हो, सामान्य लोक के चित में मीरा की सहज स्वीकृति थी। इस लोकस्मृति की परंपरा से भी हमें मीरा की वह छवि प्राप्त होती है जो स्वाधीन, गरिमामयी और साधु है। इस लोक की शक्ति से ही मीरा जैसी विधवा स्त्री ने राणा और समस्त स्त्री विरोधी समाज का सामना किया होगा। मीरा ने अपने पदों में राणा के प्रत्येक अत्याचार का भेद खोलकर उसे सीधी चुनौती दी। उन्होंने उसके प्रत्येक कपट का सिर्फ सामना ही नहीं किया, अपितु अपनी निर्भयता से उसके सत्ता और शक्ति के अहंकार को बौना कर दिया।

मध्यकालीन सामंती समाज में राजपूत-क्षत्रिय जातियों के पुरूषार्थ को 'ज़र, ज़ोरू और ज़मीन' के भोग के संदर्भ में परिभाषित किया जाता था। ऐसे वंश की विधवा स्त्री का अपने परिवार के संरक्षक पुरूष की खुली अवहेलना कितनी साहसपूर्ण रही होगी। मीरा ने राणा का नाम लेकर उसे धिक्कारा तथा

HMDC-066

स्पष्ट कहा कि वह किसी भी उपाय से उन्हें उनके आराध्य कृष्ण की भक्ति से डिगा नहीं सकता। चरित्र हत्या को सामंती समाज अपना सबसे बड़ा हथियार समझता था। राणा ने भी अपने स्वतंत्र आचरण की घोषणा करने वाली मीरा की बदनामी की होगी। इन प्रसंगों से मीरा और दृढ़ हुई और उन्होंने राणा को स्पष्ट चेतावनी दी कि –

'राणा जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूंगी चाल अपूठी'

मीरा ने सत्संग की निंदा करने वाले को दुर्जन माना है और वे उन्हें भी साफ-साफ धिक्कारती हैं। पति को परमेश्वर करने वाले सामंती नैतिकता की कोई परवाह न करते हुए मीरा ने 'गिरधरनागर' को अपना सच्चा प्रीतम घोषित किया। मीरा की भक्ति की रीति न्यारी थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कृष्ण के रूप में उन्हें अविनाशी सुहाग प्राप्त हुआ है। कृष्ण का अपने योग्यपूर्ण वर घोषित करते हुए उन्होंने राणा वंश की स्त्री को नियंत्रण में रखने वाली आचार संहिता को भारी चोट पहुंचाई। मीरा की स्वाधीनता राणाकुल के लिव अनवरत भारी संकट बनती गई होगी। यही कारण है कि राणा ने मीरा की हत्या के भी अनेक उपाय किये। मीरा का भक्ति हठ, उनकी स्पष्टवादिता और रूढ़िविरोध जड़ीभूत समाज के लिए चुनौती बनते गये। वस्तुतः मीरा ने बार-बार जिस कुल मर्यादा को तोड़ने की बात कही है वह स्त्री दमन और शोषण में लगी वह छद्म कुलमर्यादा थी जो उसे जीवित व्यक्तित्व न मानकर निष्प्राण वस्तु समझती थी। मीरा के कुटुंब की स्त्रियों को गहने, कपड़े, खाने-सोने का सुख तो था, किन्तु उनका अपने शरीर, अपनी आत्मा पर कोई अधिकार नहीं था। यह अनायास नहीं है कि मीरा ने उन्हीं कृष्ण को आराध्य माना जिन्हें द्रौपदी ने अपने घोर संकटकाल में अपनी रक्षा के लिए पुकारा था। मीरा के लिए भी उनका परिवार तथा उनके समय का रूढ़िग्रस्त समाज अपनी जड़ीभूत मान्यताओं के साथ कठोर होता गया था। मीरा ने भी गोपिका वल्लभ कृष्ण में ही नारी स्वाधीनता का संपूर्ण विधान अनुभव किया। उन्होंने राणा कुल द्वारा दिये गये समस्त उपभोगों का त्याग करते हुए अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को स्वतंत्रता के सार्थक अर्थ में चरितार्थ किया। भक्ति और साधु संगति में मीरा का भावलोक ही समृद्ध नहीं हुआ था, अपितु उनकी दृष्टि व्यापक और उदार होती गयी थी। इसीलिए अपनी भक्ति और व्यक्तित्व पर चौतरफा प्रहार झेलते हुए भी वे कभी अपनी निष्ठा से विचलित नहीं हुई। देखा जाये तो राजसत्ता के रूप में शासक राणा, वंश की कुलीनता की दावेदारी लेकर राणा कुल के स्त्री-पुरूष और शेष रूढ़िवादी समाज बहुत संगठित होकर मीरा पर प्रहार कर रहे थे, किन्तु मीरा न राणा से आतंकित थी और न उन्हें छद्म कुलीनता की कोई परवाह थी। 'स्त्री' के प्रति अमानवीय विधि-निषेधों से लैस रूढ़िवादी समाज के लिए तो उनके प्रखर स्वाभिमानी व्यक्तित्व की आंच ही यथेष्ट थी। इस प्रकार मीरा अपने समय के समाज की सामंती पतनशीलता से संघर्ष करती हुई एक निर्भय स्वाधीन व्यक्तित्व के रूप में मध्ययुगीन भक्तिकाव्य धारा में अपनी एक अलग और अनूठी छाप छोड़ती है। उनमें एक असाधारण स्त्री का ग्रहण और त्याग का विवेक है। वे स्वाधीन तो हैं, किन्तु स्वछंद नहीं है। वे गोकुल-वृन्दावन जैसे मानवीय गुणों से युक्त साधु समाज का स्वप्न देखती है। उनका संघर्ष असाधु, अन्याय और असत्य से है। राणा में ये तीनों प्रवृत्तियां मौजूद हैं। मीरा इन प्रवृत्तियों पर तीखी चोट करती हैं। कहती हैं –

विध विधणा री न्यारा।। टेक ।।
दीरघ नेण मिरघ कूं देखां कणलण फिरता मारा।
उजलो बरण बागलां पावां कोयल वरणां कारा।
नदयां नदयां निरमल धारां समुंद करयां जल खारां।
मूरल जण सिंघासण राजा पण्डित फिरतां द्वारा।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर राणा भगत संपारा।

इस पद से मीरा की विकसित सामाजिक चेतना और राजनीतिक विवेक का ज्ञान होता है। यहां मीरा राजसत्ता के दमनकारी अमानवीय रूप को उद्घटित करने के साथ-साथ अन्याय और दमन के लिए संगठित जड़ समाज की भी पहचान कराती हैं। यहां मध्ययुगीन समाज की विसंगतियों के प्रति मीरा का स्वर तीक्ष्ण व्यंग्यात्मक है। वस्तुतः विसंगत यथार्थबोध के प्रति मानवीय चित्र की सबसे स्वाभाविक

अभिव्यक्ति व्यंग्य ही है। मीरा के कई पदों में व्यंग्य की एक गहरी अन्तर्निहित प्रकार की धार पहचानी जा सकती है। ऐसे पदों का संदर्भ सदैव उनके समय का समाज और उसका अमानवीय यथार्थ है।

मीरा ने केवल राणा, राणाकल या रूढिवादी समाज से ही संघर्ष नहीं किया था। जैसा कि हम जानते हैं कि उन्हें साधुवेश में आने वाले असाधुओं से भी जूझना पड़ा था। वैष्णव भक्तिधारा में भी कुछ ऐसी संकीर्णतायें थीं जिन्हें मीरा जैसी तपस्विनी नारी नहीं सह सकती थी। ऐसा ही एक प्रसंग मीरा के पुरोहित रामदास द्वारा वल्लभाचार्य जी का भजन गाने का है। मीरा ने उनसे ठाकुर जी का पद गाने का अनुरोध किया। पुरोहित ने इसे वल्लभाचार्य जी का अपमान समझ मीरा को घोर अपशब्द कहे। इस प्रकार के असाधुओं से मीरा का पाला पड़ता ही रहता था किन्तु उनमें साधु और असाधु को पहचानने का विवेक तो था ही, साथ ही अद्‌भुत क्षमाशीलता और विनम्रता भी थी। अन्याय से प्रत्येक स्तर पर जूझने वाली मीरा की प्रखरता बहुत मर्यादित थी। उनके व्यक्तित्व का संयम-नियम असाधारण था तथा इससे उनके अन्याय विरोध की धार और तीखी होती थी।

11.4 मीरा का जीवन संघर्ष

मीरा ने जीवन-पर्यन्त बहुत कठिन विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष किया। लगभग 4-5 वर्ष की आयु में ही उनकी माता का देहान्त हो गया था। मातृविहीन मीरा को उनके पितामह राव दूदा जी ने बहुत स्नेह और यत्न के साथ पाला। राव दूदा जी वीर होने के साथ सहृदय और वैष्णवचित्त व्यक्ति थे। मीरा का बाल्यकाल इन्हीं पितामह के संरक्षण और सानिध्य में बीता। राव दूदा जी ने अपने बड़े पुत्र वीरमदेव जी के पुत्र जयमल के साथ मीरा की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार मीरा को बाल्यपन से ही व्यक्तित्व के विकास का जो वातावरण मिला वह रूढ़िवादी वर्जनाओ से मुक्त सहज स्नेह और सुरक्षा से युक्त था। यही कारण है कि मीरा का व्यक्तित्व सामंती विधि निषेधों द्वारा दमित स्त्री का सा न बन कर स्वतंत्रता साहसपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में विकसित हुआ। उनके व्यक्तित्व में दृढ़ता, सर्जनात्मकता और अन्याय के विरोध जैसे असाधारण मानवीय गुणों का निरन्तर विकास होता गया। निरर्थक वर्जनाओं से अप्रभावित उनकी दृष्टि साधु, असाधु, न्याय-अन्याय और करणीय तथा अकरणीय को पहचानने के प्रति स्पष्ट होती गयी थी। मीरा में कोई छद्म नहीं था और न ही कोई भय। कुल परिवार और संकीर्ण समाज के अनवरत विरोध के बावजूद वे अपने पथ से कभी विचलित नहीं हुई। जैसा कि हमने देखा है कि मीरा के कृष्ण के प्रति अनुराग का निंदक केवल राणा परिवार ही नहीं था, सामंती जड़ताओं से ग्रस्त समाज तो था ही, अनेक वैष्णव साधु भी मीरा को शंका और विद्वेष की दृष्टि से देखते थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में कुछ ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनमें मीरा के प्रति इन कपटपूर्ण कृष्णभक्तों की कटुता का ज्ञान होता है। मीरा ने बड़े साहस के साथ किसी व्यक्ति, संप्रदाय या समाज से अपनी भक्ति और अभिव्यक्ति के प्रति कोई समर्थन न चाहते हुए साफ कहा है कि -

> **"चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां कोई करसी म्हारो कोई।
> गज से उतर के खर नहीं चढ़स्यां, ये तो बात न होई।"**

मीरा को असंख्य बाधाओं से जूझना पड़ा था। मातृ-वियोग उनका एकमात्र शोक नहीं था। उनके पितामह दूदा जी की छत्रछात्रा भी कुछ ही दिनों में समाप्त हो गयी। पिता राव रत्न सिंह लड़ाईयों में व्यस्त थे। दूदा जी के बाद राव वीरभदेव जी ने अवश्य मीरा के पालन-पोषण पर ध्यान दिया। उन्हीं के प्रयत्न से मीरा का विवाह मेवाड़ के कुअंर भोजराज जी के साथ हुआ। मीरा का विवाहित जीवन सुखी था। उनके पति उदार हृदय व्यक्ति थे, अतः पति के जीवित रहते मीरा के लिए श्वसुर कुल विपरीत नहीं था। किन्तु पति की मृत्यु के बाद जब अनवरत दैवी आघातों से आहत मीरा ने स्वयं को कृष्णभक्ति में डूबा देना चाहा तब यही श्वसुर कुल विधवा मीरा पर भारी विपत्ति की तरह टूट पड़ा। पति की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद मीरा के श्वसुर राणासांगा का भी देहांत हो गया। मेवाड़ का उत्तराधिकार महाराणा रत्नसिंह को मिला जो कुछ ही समय तक जीवित रहे। उनके बाद मेवाड़ का शासन मीरा के देवर विकमाजीत सिंह ने संभाला। विकमाजीत सिंह बहुत अनुदार और संकीर्ण चित्त व्यक्ति थे। पति की मृत्यु के बाद मीरा अपना सारा समय भगवद्‌भक्ति, साधु-संगत और कीर्तन भजन

IMDC-066

में बिताने लगीं। मीरा के इस आचरण को सामंती नैतिकताओं में अवरूद्ध राणा परिवार अमर्यादित मानता था। उनसे सामान्य विधवाओं के से पूजा-पाठ, व्रत-तीर्थ तथा दान आदि की अपेक्षा की जाती थी। मीरा ने इन नियमों और वर्जनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप मीरा के प्रति राणा कुल के अत्याचार बढ़ते गये। पुरूषसत्तात्मक रूढ़िवादी समाज को न तो मीरा की कृष्ण भक्ति समझ में आती थी और न ही उनकी स्वाधीनता। यही कारण है कि मीरा की कृष्ण के प्रति तन्मयता को शंका की दृष्टि से देखा गया और उन पर अनेक लाछन लगाये गये। इन प्रतिक्रियाओं से बहुत मर्माहत होकर मीरा ने कहा –

'बूझया माणे मदण बावरी स्याम प्रीत म्हां कांचा।
विखरो प्यालो राणां भेज्यां आरोग्यांणा जांचां।'

मीरा को सतसंग की अनुमति नहीं थी। गिरधर नागर के प्रति मीरा का पावन समर्पण सांसारिकता में फंसे कुबुद्धिजन की समझ से परे था। स्त्री को भोग की वस्तु समझने वाला सामंती चित्त मीरा के अद्भुत आत्मविकास की कल्पना ही नहीं कर सकता था। उनके अनुभव में लौकिक प्रेम, कलह और गहनों-कपड़ों में रमने वाली स्त्रियां थीं। मीरा के समान कठोर अत्याचार झेल कर अपने पथ पर अडिग रहने वाली स्त्री उनके लिए आश्चर्य भी थी और संकट भी। मीरा की भी स्वतंत्रता के दमन के लिए सुख-साज और कपड़े-लत्ते, गहने आदि के नाना प्रलोभन दिये गये थे। इनके काम न करने पर कुटुंबीजन की ओर से उन्हें चेतावनियां भी मिलीं। राणा ने पहरे बैठा दिये, ताले जड़वा दिये। सास-ननद ने गालियां दी। राणा के विष भेजने का उल्लेख मीरा के अनेक पदों में आया है। मीरा की स्वाधीनता तत्कालीन पुरूषसत्तात्मक समाज के लिए बड़ी चुनौती रही होगी। इस समाज ने राणा कुल के अत्याचारों का साथ देते हुए मीरा की अनेक प्रकार से निंदा की। उनकी हंसी उड़ाई। मीरा ने कहा--

'कड़वा बोल लोक जग बोल्यां करस्यां म्हारी हांसी।
आंबां की डालि कोइल इक बोले मेरो मरण अरू जग केरी हांसी'।

मीरा की आत्माभिव्यक्तिपरक पदों में राणा दमनकारी राजसत्ता का प्रतीक है। मीरा के समय की समस्त स्त्री स्वाधीनता विरोधी सामंती शक्तियां इस राणा के साथ है। यहां तक कि मीरा का वह पुरोहित भी जिसने मीरा के एक सहज व्यवहार पर कुपित हो मीरा को अपशब्द कहे। आज का आधुनिक कहा जाने वाला समाज भी स्त्री स्वाधीनता के प्रति सहज नहीं है। मीरायुगीन समाज में एक स्त्री की साधुसंगत में रमने की गतिविधि ने कितनी ही दृष्टात्माओं को आकृष्ट किया होगा। मीरा का संघर्ष अपने समय की इन रूग्ण प्रवृत्तियों से भी था। उन्होंने बड़ी सजगता और आत्मबल के साथ ऐसे छद्म साधुओं का सामना किया। ऐसी अनेक प्रतिकूलताओं से जूझती हुई मीरा ने अपनी श्रेष्ठ भक्ति का विश्वास सामान्य जन में तो जगा लिया, किन्तु जड़ीभूत सामंती समाज उन्हें भला बुरा कहने से बाज नहीं आया। वस्तुत: दोहरी नैतिकता वाले पुरूषसत्तात्मक समाज का सबसे कारगर हथियार चरित्र की दृष्टि से स्त्री की छवि को धूमिल कर देना है। यह हथियार मीरा पर पूरी क्रूरता के साथ आजमाया गया। समाज की इन प्रवृत्तियों पर सीधी चोट करते हुए मीरा ने कहा

'नहिं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंगरूड़ो ।।टेक।।
थारे देसां में राणा साधु नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।'

इस प्रकार मीरा में सामंती संकीर्णताओं को पहचानने और उन पर चोट करने का साहस था। राणा के नाना अत्याचारों के बदले उसे सीधी चेतावनी देते हुए मीरा ने कहा --

'सीसोधो रूठ्यो म्हारो कोई करासी।
म्हे तो गुण गोविन्द का गास्यां, होमाई ।।टेक।।
राणो जी रूठ्यां बारों देख रखासी।
हरि रूठ्यां कुम्हलास्यां हो भाई।''

इस प्रकार मीरा ने अपने समय के नारीविरोधी सामंती समाज के अत्याचारों को मौन होकर सहने के बजाय उनका साहसपूर्वक सामना किया। राणा विक्रमाजीत सिंह केवल मीरा के प्रति ही निरंकुश नहीं था। वह एक बुरा शासक भी था। सन् 1532 से 1534 के बीच गुजरात के बादशाह बहादुर शाह ने दो बार मेवाड़ पर आक्रमण किया। दूसरी बार उसे विजय प्राप्त हुई तथा चित्तौड़ को उसने अपने अधीन कर लिया। इस समय तक मीरा के प्रति राणा के अत्याचारों की बात दूर-दूर तक फैल चुकी थी। राव वीरभदेव जी ने मीरा को भेड़ता बुला लिया। जयमल जी और मीरा में परस्पर स्नेह और आदरभाव था ही। मीरा को मायके में सम्मान और जीवन की अनुकूलतायें प्राप्त तो हुई, किन्तु भेड़ता राज्य की जोधपुर से बढ़ती हुई अनबन के चलते भेड़ते का जीवन शांतिपूर्ण नहीं रह सका। सन् 1538 में जोधपुर नरेश राव मालदेव ने भेड़ता पर अधिकार कर लिया और इन घटनाओं से मीरा की संसार के प्रति विरक्ति और प्रगाढ़ हो उठी। लगभग इसी के आसपास मीरा ने अपने दोनों पारंपरिक आश्रम तोड़ दिये, अर्थात् श्वसुर गृह के साथ-साथ पितृगृह भी। वे तीर्थ यात्रा पर चल पड़ी। कुछ दिनों तक वृन्दावन में रहीं उसके बाद द्वारका गयीं। कहते हैं द्वारका में ही उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। यद्यपि मीरा के गृहत्याग के बाद भेड़ता और मेवाड़ ने उन्हें लौटाने के बहुत प्रयत्न किये, कन्तिु मीरा पुनः वहां लौट कर गयीं हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इस प्रकार मीरा ने असह्य यातनाओं से भरे हुए जीवन को बड़ी गरिमा और स्वाभिमान के साथ व्यतीत किया। सामंती समाज की रूढ़ियां और छविभंजक प्रवृत्तियां मीरा का कुछ न बिगाड़ सकीं। लोकचित में मीरा की पावन असाधारण छवि आज भी विद्यमान है।

11.5 कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति

मीरा की कृष्ण भक्ति श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप के प्रति माधुर्य भाव की भक्ति है। इस भक्ति को प्रेमाभक्ति या मधुरा भक्ति भी कहा जाता है। मधुराभक्ति का प्रधान भाव राते है। इस 'रति' को लौकिक प्रेम से भिन्न करने के लिए सगुण भक्तों ने इसे 'उज्वल रस' कहा है। 'रति' का मूल स्वभाद सर्वाधिक मानवीय, तीव्र और प्रगाढ़ होता है। इसके अन्तर्गत प्रिय के प्रति चरम तन्मयता और निर्द्वन्द्व समर्पण होता है। इसलिए 'प्रेम' मात्र को ही व्यक्तित्व की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति कहा जाता है। देह, मन और आत्मा की मानवीय स्वाभाविकताओं के अनुरूप घटित होते हुए इस प्रेम में अपने मार्ग की बाधाओं से लड़ने का अद्भुत नैतिक साहस होता है। मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति का यही स्वरूप है। यह भक्ति जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही मानवीय भी। माधुर्यभाव की भक्ति को सूर ने 'सुद्धा भक्ति' कहा है। उनके अनुसार --

'सुद्धा भक्ति मोहि को चाहै। मुक्ति हुं कौं सो नहि अवगा है।'

इस प्रकार इस 'सुद्धा भक्ति' में भक्ति का एकमात्र प्राप्य आराध्य है। भक्त अपने आराध्य को संसार से अपनी मुक्ति के लिए नहीं चाहता। मीरा के लिए भी उनकी 'कृष्ण भक्ति', साधन और साध्य दोनों है तथा वे परलोक, निवृत्ति अथवा मुक्ति की चिंता न कर कृष्ण के प्रति चरम एकात्म की दृढ़ आकांक्षा करती हैं। जीवन, समाज या संसार के प्रति उनका वैराग्य भी संत, भक्त कवियों से भिन्न प्रकार का है। वे जीवन के असाधु, अमानवीय और अन्यायपूर्व पक्ष के प्रति विरक्त हैं, किन्तु लोक जीवन का साधु, प्रेममय मानवीय पक्ष उन्हें प्रिय हैं। वे मनुष्य में सद्वृत्तियों के विकास की चिंता करती हैं इसलिए अन्याय और असत्य से उनका विरोध बहुत सीधा और तीव्र है। अन्यायी राणा को फटकारते हुए मीरा कहती है --

'नाहिं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंगरूड़ो ।।टेक।।
थारे देसां में राणा साध नहिं छै, लोग बसै सब कूड़ो ।।

इसीलिए मीरा संत समाज से जितनी सुखी होती है संसार को देखकर उतना ही दुःख पाती है। नाभादास ने मीरा के भक्तिभाव को कृष्ण के प्रति गोपिका के प्रेम सदृश्य लिखा है। पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत गोपीभाव की इस भक्ति को भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप माना गया है। मीरा की भक्ति के सन्दर्भ

HMDC-066

में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उसे सगुण-निर्गुण भक्ति के परिपाटीबद्ध स्वरूप के अन्तर्गत नही निर्धारित किया जा सकता।

मीरा के भावजगत के निर्माण में सगुण-निर्गुण भेद की कोई दखल नहीं है और न ही वे किसी गुरू विशेष या भक्ति के संप्रदाय विशेष में दीक्षित हैं। वे भक्ति आंदोलन के मुख्य सार 'ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण मात्र' को पहचानती है और इस दृष्टि से भक्ति की उस समूची परंपरा को आत्मासात करती है जिसमें जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और चैतन्य महाप्रभु के साथ-साथ सिद्ध नाथ पंथी साधु और सूफीसंत भी हैं। मीरा की भावाभिव्यक्ति में जो वैविध्य मिलता है उसके मूल में इस समूची परंपरा का प्रभाव है। मीरा की भक्ति उनके व्यक्तित्व के समान ही सहज निराडंबर और रागपूर्ण है।

इस प्रकार यह भक्ति सगुण की अनेक विशेषताओं का अनुकरण करने के बावजूद कई प्रकार से उसका अतिक्रमण भी करती है। इस प्रकार के अतिक्रमण के संदर्भ प्राय: वही हैं जिन्हें सामने रख कर मीरा के निर्गुण भक्त या नाथपंथी परंपरा का भक्त सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। मीरा के एकमात्र अभीष्ट 'गिरधर नागर' है तथा उन्हें 'गिरधर नागर' से सच्ची प्रीत का प्रत्येक पंथ प्रिय है। कृष्ण को अनेक नामों से स्मरण करने वाली मीरा कहीं-कहीं उन्हें 'राम' या 'रमैया' पुकार बैठी है --

'सुन्दर स्याम सुहावणा, मुख देख्यां जी जैहो।
मीरां के प्रभु रामजी, बड़ भागण रीझं हो।।'

यहां ऐसा लगता है कि 'रामजी' से मीरा का अभिप्राय सुन्दर श्याम कृष्ण से ही है। मीरा के कई अन्य पदों में भी 'राम' के लिए संबोधन है। प्राय: इस प्रकार के पदों का संदर्भ भक्त वत्सल भगवान के प्रति मनुष्य को प्रेरित और उद्‌बोधित करने का है। जैसे --

'लेतां लेतां राम नाम रे, लो कड़िया तो लाजा मरे है।'

या

'जूठे फल लीन्हे राम, प्रेम की प्रतीत जाण,
ऊंच-नीच जाने नहीं, रस की रसीलड़ी।'

कहीं-कहीं मीरा की अनूठी भावतन्मयता के चलते राम और कृष्ण में अद्‌भुत मेल हो गया दीखता है। जैसे -

'देखत राम हसै सुदामा कूं देखत रामहसै' ।।टेक।।

वस्तुत: मीरा के लिए भक्त वत्सल राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं है। मीरा ने कृष्ण को 'जोगी,' 'जोगिया,' 'रावल' आदि संबोधन भी दिये हैं। इन संबोधनों के संदर्भ से ही मीरा पर नाथपंथी प्रभाव की बात कही जाती है। ऐसे पदों में मीरा की अपने आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्रता दीवानगी की हद तक है। प्रेम की इस तीव्रता को सूफी संतों के प्रभाव से भी जोड़ा जाता है। इसके अतिरिक्त मीरा ने कुछ पदों में 'सतगुरू' का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के साक्ष्यों से मीरा को निर्गुणसंत परंपरा का प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि मीरा कबीर, रैदास, नानक या पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों की तरह भ्रमणशील नहीं थी तथापि उनकी साधु मण्डली में प्रत्येक पंथ के साधु या भक्तजनों का स्वागत था। वहां 'सतसंग' होता था, भगवद्‌भक्ति विषयक विचारों का आदान-प्रदान भी होता रहा होगा। इसके अलावा गुजरात और राजस्थान सिद्धनाथ संतों की साधना और भाव प्रचार का महत्वपूर्ण क्षेत्र तो थे ही। तो इन समस्त प्रभावों से मीरा की भक्ति का स्वरूप निर्मित हुआ होगा।

मीरा की भक्ति में अन्य संत कवियों की भांति अध्यात्म की रहस्यवादी जटिलतायें प्राय: नहीं है। उनका भावजगत उनके व्यक्तित्व की ही भांति पूरी तरह से व्यक्त और प्रत्यक्ष है तथा वे अपने प्रत्येक भाव के साथ कृष्ण के प्रति सहज संबोधित है। इसके अतिरिक्त कबीर या तुलसी के समान मीरा के लिए काम

NMDC-066

क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य के पंच मकार या सांसारिक सुखों के प्रलोभन आदि कहीं समस्या नहीं है। वे इनसे सहज ही मुक्त है तथा आर्तजनों की सहज मुक्ति के लिए सर्वस्व समर्पण वाला भक्ति की रीति का विधान करती है। संसार से उनकी विरक्ति कृष्ण के प्रति उनकी अनन्य भक्ति के समान ही सहज और निर्बाध है। मीरा की भक्ति का मूलाधार कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम है। इसके अतिरिक्त उनकी भक्ति में अन्य भक्त कवियों के समान दैन्यपूर्ण आत्मविगलन प्रायः नहीं है। मीरा का भावलोक व्यापक, उदात्त और समृद्ध है। उनकी भक्ति में कांता भाव के प्रगाढ़ रंग के अतिरिक्त कहीं-कहीं सख्य या दास्य भाव के भी रंग मिलते हैं, किन्तु आत्म-निवेदन के इन सभी रूपों में मीरा के उत्कट कृष्ण प्रेम के अलावा उनके जीवनानुभवों की सच्चाई और गहराई है। कृष्ण का अद्भुत अलौकिक सौन्दर्य मीरा की अनुरक्ति की मूल प्रेरणा और आकर्षण हैं। निरंतर प्रगाढ़ होती हुई इस अनुरक्ति के चलते मीरा कृष्ण के अनवरत सानिध्य का यत्न करती है। इस क्रम में उनकी भक्ति में पुष्टिमार्गीय भक्ति के भी कुछ लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे प्रभु के स्वरूप और गुण का स्मरण, कीतन, प्रभु के पुरूषार्थ, लीला एवं भक्त हितकारी स्वरूप का निरूपण, उनकी वंदना, आत्मनिवेदन, नैकट्य की आकांक्षा की अभिव्यक्ति, सतसंग, तादात्म्य एवं समर्पण आदि। मीरा स्वयं अपनी भक्ति को 'भगति रसीली' कहती है। यह भक्ति उनके लिए 'अमर रस' का प्याला है जिसे पीकर वे दुर्मति, कालप्रकोप और नश्वर संसार से सहज ही मुक्त है। अपने भक्त रूप को गोपी भाव में अवस्थित मान मीरा ने कृष्ण से अपने जन्म-जन्मातंर के प्रेम की बात कही है। कृष्ण उनका अविनाशी सुहाग है। उन्हें अनेक बार मीरा पिव, भरतार, वर आदि संबोधन देती है। उनकी भक्ति में कहीं स्वकीया का अधिकार और आत्म-विश्वास है तो कहीं वे ऐसे प्रिय को परकीया की तरह उपालंभ भी देती हैं। मीरा प्रेम की ही नहीं दरद की भी दीवानी है। प्रिय से प्राप्त यह दर्द उन्हें प्रिय के समान ही प्रिय है। मीरा का भक्ति में अनुभव और उपदेश का सुन्दर एकात्म है। अपनी प्रेम साधना का चरम आकांक्षा के रूप में मीरा उस अगम्य देस में वास की इच्छा करती हैं जिसके निकट काल की भी गति नहीं है। कहती है --

'चालां अगम वा देस, काल देख्यां डरॉं।
भरा प्रेम रा होज, हंस केल्यॉं करॉं।
साधा संत रो संग, इयाण जुगतां करां।
धरा सांवरो ध्यान चित्त उजलों करां।
साजा सोल सिंगार, सोणारो राखड़ॉं।
सॉंवलिया सू प्रीत, औरॉं सूं आखड़ॉं।।

मीरा के इस उद्गार में किंचित निर्गुण संतों के रहस्यवादी स्वर का भी स्पर्श है, किन्तु वह उनसे कम जटिल या अमूर्त है।

इस प्रकार मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति सगुण-निर्गुण भक्ति की समूची परंपरा के सार को आत्मसात करती हुई आध्यात्मिकता को मानवीय राग-विराग से संपन्न भावलोक सौंपती हुई अपनी अभिव्यक्ति में मीरा के ही समाज सहज किंतु अनूठी और असाधारण है। उसमें स्वानुभूति की वह तीव्रता और सच्चाई है जिसके द्वारा वह भक्ति आंदोलन में एक अनूठे रागात्मक स्वर का विधान करती है।

11.6 मीरा के गिरधर नागर

मीरा के 'गिरधर नागर' सगुण भक्त कवियों के परम् आराध्य भगवान कृष्ण ही हैं। उनके समान ही वे उनके सगुण स्वरूप की लीलाओं का गान करती है। मीरा के पितामह राव बूदा जी वैष्णव भक्त थे। मीरा का पालन-पोषण और व्यक्तित्व निर्माण राव दूदा जी के वैष्णव संस्कारों के प्रभाव में ही हुआ। कहा जाता है कि मीरा को बाल्यकाल में ही गिरधर नागर का एक स्वरूप प्राप्त हो गया था और वह स्वरूप उन्हें अत्यधिक प्रिय था। इस संदर्भ में लोक में कई किबदन्तियां भी प्रचलित हैं। एक प्रसंग मीरा की माता द्वारा उस स्वरूप को ही मीरा का वर बताने का भी है। संभवतः इन संयोगों से मीरा के बाल्यहृदय में कृष्ण के प्रति अनुरक्ति का बीज पड़ गया होगा जो उनके निरंतर कठिन होते जीवन का एक मात्र आधार या संबल बनता गया। कृष्ण को प्रायः वे 'गिरधर नागर' संबोधन देती है। संभवतः

HMDC-066

मीरा को इस नाम में कृष्ण चरित्र की संपूर्णता का बोध होता है। 'गिरधर' में यदि उनके लोकरक्षक स्वरूप की अभिव्यक्ति है तो 'नागर' में अद्‌भुत लोकरंजक स्वरूप की। इस प्रकार मीरा ने कृष्ण की 'मोहिनी मूरत' में सत्य, शील और कर्म का मेल देखा है। यह सौंदर्य मानवीय और सकर्मक है। उनमें मानवोचितता और अलौकिकता का अद्‌भुत मेल है। मीरा उन्हें अपने सबसे निकट का सच्चा साथी मानती है तथा उनके प्रति अपने सुख-दुखः भरे जीवन के समस्त अनुभवों के साथ निर्द्वन्द्व भाव से व्यक्त होती है। कृष्ण मीरा के आराध्य हैं। अन्य भक्त कवियों के समान मीरा भी श्रीकृष्ण के लीलामय स्वरूप का ध्यान भजन या उनके प्रति आत्म निवेदन करती है, किन्तु मीरा का भावलोक प्रेमलोक है जिसमें वे आराध्य को उनके समस्त ऐश्वर्य और अलौकिकता के साथ निर्मित करन के बावजूद उनसे अपने सुख-दुखः का एक आत्मीय संबंध भी विकसित करती है।

मीरा के गिरधर नागर को हरि, स्याम, नंदलाल, बिहारी जी, मोहन, गोपाल, गोविन्द, दीनानाथ, ब्रजनाथ, जोगिया जी, गिरधरलाल, मनमोहन, रमैया, भुवनपति, नन्द कुमार, पिया, पिव जैसे कितने ही संबोधन दिये हैं। वे कहती हैं --

'म्हारां री गिरधर गोपाल, दूसराँ णाँ कूयां।
दूसरां णां कूयां साधां सकल लोक जूयां ।।टेक।।
माय्रा छंड्या अन्ध छंड्यां छांड्यां सगों सूयां।
साधा ढिंग बैठ बैठ, लोक लाज खूयां।

गिरधर गोपाल मीरा के सर्वस्व हैं। वे स्वरूपवान और लोकहितकारी हैं। मीरा उनके अलौकिक सौन्दर्य के आगे प्रेम विवश हैं। उनका मुख सुंदर है। नेत्र कमल के समान हैं और दीर्घ नेत्रों की बांकी चितवन का तो कहना ही क्या। उनकी वाणी मीठी और सम्मोहन से भरी हुई है। सबसे बढ़कर तो उनकी वंशी का जादू है जिसके कारण प्रेम विवश मीरा उन पर बार-बार बलिहारी जाती है। ऐसे कृष्ण के क्षण भर भी विलग होना मीरा को सह्य नहीं है। वे उन्हें अपनी आंखों में बसा कर रखती हैं। वह छवि क्षण भाव को भी विस्मृत न हो इसके लिए मीरा अपनी पलकों को अचल कर लेने की बात कहती है। यही नहीं कृष्ण सदैव उनके हृदय में बसे हुए हैं और उनसे प्रतिपल उनका मिलन होता है। वे कहती हैं --

'स्याम मिलन सिंगार सजावाँ सुखरी सेज बिछावाँ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जावाँ।।

ऐसे गिरधर को रिझाने का मीरा करोड़ों यत्न करती हैं। लोकलाज और कुल की मर्यादा के बंधनों की एक न सुनती हुई उनके प्रति प्रेम के घुंघरू पग में बांध कर मीरा नाच उठती है। इस प्रकार मीरा अपने रसिक के प्रति अपनी पुरानी प्रीत को जांचती है। मीरा के गिरधर नागर में भक्त वत्सल प्रभु की करूणा के साथ-साथ लीला पुरूषोत्तम का रसित स्वरूप भी शामिल है। उनकी प्रीति से भक्त का मन उज्जवल रस से परिपूर्ण और लोकोपकारी हो उठता है। उसमें साधु तथा सुन्दर को पहचानने का विवेक आ जाता है। मीरा कहती हैं --

भाई सांवरे रंग राची ।। टेक।।
सज सिंगार बांध पग घूंघर, लोकलाज तज नाची।
गया कुमत लयां साधों संगत श्याम प्रीत जग सांची।

ये गिरधर मीरा के लिए अनमोल हैं। मीरा ने उन्हें तन-मन जीवन वार कर पाया है। कृष्ण को पाकर मीरा ने संसार से पूरी तरह से मुंह मोड़ लिया है। उनके अनुसार यह संसार, इसके सुख वैभव छोटे-मोटे तालाबों, झीलों जैसे हैं, जबकि कृष्ण महासागर हैं। उनके आगे तो गंगा-यमुना की भी बिसात नहीं। कृष्ण की सहज कृपा से मीरा उनके दरबार के महत्वपूर्ण सरदारों में से एक हो गयी हैं। कहती हैं --

NMDC-066

हिल्या-मेल्याँ कामणा म्हारे, म्हा मिल्या सरदाराँ री।
कामदाराँ सूं काम णाँ म्हारे, जावा म्हा दरबाराँरी।'

इस प्रकार मीरा यहां सामंती राज परिवार से मिले सत्ता और अधिकार के अनुभवों से अपने आराध्य के परम् अधिकारी स्वरूप का निर्माण करती है। इस प्रकार मीरा के कृष्ण में भक्त कवियों द्वारा निर्मित कृष्ण छवि का प्रभाव तो है, किंतु अपने भिन्न अनुभव लोक से वे उन्हें कई नये रूप भी प्रदान करती हैं। मीरा के प्रभु जीवमात्र की सद्‌गति के प्रेरक सर्वव्याप्त और अविनाशी है। अपने आराध्य का स्पष्ट परिचय देती हुई मीरा कहती है --

'म्हारो गोकुल रो ब्रजवासी ।।टेक।।
ब्रजलीला लख जण सुख पावाँ, बजवणताँ सुखरासी।'

वे पुन: कहती हैं कि उनके अविनाशी प्रभु ने नंद यशोदा के पुण्य से उनके घर जन्म लिया है। अर्थात् उनके प्रभु में जन्म-मरण से परे होने का वही महात्म्य है जिसे निर्गुण संतों ने गाया है। ऐसे कृष्ण से मीरा अपने प्रेम संपन्न भावलोक में निर्विघ्न मिलती हैं। उसके रंग में रची हुई नाचती गाती हैं। वे साफ कहती हैं कि गिरधर नागर के रूप में उन्हें अचल-अविनाशी सुहाग प्राप्त हुआ है। लोकनिंदा के विष ने मीरा की भक्ति को तपा कर खरे सोने सा दमका दिया है। गिरधर की सच्ची प्रीत से मीरा को कोई प्रलोभन डिगा नहीं पाया। हरि के रूठने की तो वे कल्पना भी नहीं कर सकतीं। हरि की कृपा से ही तो उनके जीवन का समस्त विष अमृत हो गया है। ऐसे करूणानिधान प्रभु के समक्ष कभी-कभी मीरा कातर भी हुई हैं। ऐसे प्रसंगों में उन्होंने प्रभु को साभिप्राय 'गिरधर नागर' या 'गोवरधन गिरधारी' कहा है। द्रुपद सुता, 'सुदामा', 'शबरी', 'गजराज', 'गणिका', 'करमाबाई,' आदि अनेक भक्तों को सहज ही मुक्ति देने वाले प्रभु के सम्मुख अतिभाव से प्रस्तुत होती हुई मीरा उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना भी करती है। इसमें ही वे अपनी प्रीति का निर्वाह देखती है। मीरा ने इस प्रकार कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की दृढ़ता और एक निष्ठता को अनेक प्रकार से कहने के साथ-साथ कृष्ण के स्वयं के प्रति प्रेम के प्रमाण भी चाहे हैं। वे कहती हैं --

'सांवरो म्हारो प्रीत विभाज्यो जी।'

कृष्ण के लोक उद्धारक स्वरूप की नाना छवियों के साथ मीरा ने उनके लोकरंजक स्वरूप को भी निर्मित किया है। इस संदर्भ में वे ब्रजबिहारी की नाना लीलाओं का वर्णन करती हैं। श्रीकृष्ण का वंशीवादन, चीरहरण, नागनथैया, पनघट लीला, आदि अनेक लीलाओं को वे नये रंग में प्रस्तुत करती हैं। यहां कृष्ण का नटवर नागर स्वरूप व्यक्त हुआ है।

इस प्रकार मीरा के 'गिरधर नागर' की छवि उनके जीवन संघर्ष से शक्ति प्राप्त करने वाली एकनिष्ठ माधुर्यभाव की भक्ति द्वारा निर्मित हुई है। वे परमब्रह्म परमेश्वर के समान जगत के उद्धारक और अविनाशी होने के साथ मीरा का अचल अविनाशी सुहाग भी है।

11.7 मीरा की विरह भावना

मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति में सबसे प्रगाढ़ और मार्मिक स्वर विरह का है। उन्होंने ऐसा प्रियतम ही चुना है, जिससे लौकिक जगत में मिलन संभव नहीं। इसलिए निरंतर दृढ़ होते हुए उनके इस प्रेम की अनिवार्य परिणति विरह ही है। उनके कठिन संघर्षपूर्ण जीवन के अभावों ने एक ओर तो उनकी भक्ति को खरे कंचन का सा स्वरूप दिया तो दूसरी ओर यह पीड़ा कृष्ण विछोह की उस अलौकिक अनुभूति के साथ एकसार हो गयी जो जितनी आध्यात्मिक थी उतनी ही लौकिक भी। मीरा की विरहाभिव्यक्ति में अलौकिक प्रियतम के प्रति प्रेम विवशता तथा उन्हें न पा सकने की पीड़ा आदिभाव बहुत तीव्रता के साथ उभरे हैं। ऐसे में वे प्रिय से नैकट्य और उनके प्रति समर्पण में बाधक राणा, राणाकुल और रूढ़िवादी समाज के प्रति अपना धिक्कार स्पष्ट व्यक्त करती है। ये संदर्भ उनके विरह को मानवीय गहराई और

IMDC-066

विश्वसनीयता प्रदान करते हैं। मीरा की भक्ति जितनी उनके अन्तर्जगत में घटित होती है उतना ही वह बाह्यजगत को भी अपने अनुरूप बनाने के लिए संघर्ष करती हैं। राणा विक्रमाजीत सिंह का संकट यही है। भक्ति रस में डूबी हुई मीरा साधु समाज का वह समां बांध देती हैं कि स्त्रीविरोधी सामंती समाज अपनी सारी वर्जनाओं के बावजूद उसके सात्विक वेग के आगे एक पल भी ठहर नहीं पाता। मीरा अपने प्रभु के प्रति व्यक्त ही नहीं हुई, अपितु उन्होंने उस अलौकिक को कई रंग-रूप प्रदान किये। सामंती नैतिकताओं की कतई परवाह न करते हुए अपने वैधव्य के लिए निर्धारित विधि निषेधों को ताक पर रखते हुए मीरा ने गिरधर नागर को स्वकीया भाव से पूजा और चाहा। उनके लिए श्रृंगार किया, सेज सजाई। उनसे रूठी और उनसे मान भी गई। मीरा की भक्ति के समान ही उनके विरह में भी स्वानुभूति का वह उत्कट रंग है जिसे विरह भावना के शास्त्रीय रूप-स्वरूप या दशाओं में बांध कर नहीं देखा जा सकता।

लीला पुरूष परब्रह्म श्रीकृष्ण मीरा के प्रियतम हैं। ऐसे प्रियतम से मिलन केवल स्वप्न में ही संभव है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार के स्वप्नों की परिणति या तो उस स्वप्न में प्राप्त मिलन सुख के मंदिर भाव में डूब कर उसके वर्णन में होती है अथवा इस प्रकार के मिलन का उद्भव वास्तविक जीवन में घटित विद्रोह की पीड़ा को अधिक गहरा कर जाता है। स्वप्न या कल्पना में पाये संयोग के अल्प संयोगों को भी मीरा ने डूब कर व्यक्त किया है। यही वह उनकी सबसे मूल्यवान थाती है जिसके बल पर वह प्रिय वियोग के साथ-साथ अपने विरोध में खड़े कुल-कुटुंब और समाज के सारे अत्याचारों का सामना करती है। स्वप्न में कृष्ण मिलन का वर्णन करती हुई मीरा कहती हैं --

'भाई म्हाणे सुपणा मां परव्या दीनानाथ।
छप्पन कोटां जणां पधार्‌या दूल्होसिरी व्रजनाथ।
सुपणा मां तोरण बंध्यारी सुपणामां गह्या हाथ।
सुपणा मां म्हारे परण गया पायां अचल सोहाग।
मीरा रो गिरधर मिल्यारी, पुरब जणम रो भाग।

इस प्रकार मीरा के इस अद्‌भुत स्वप्न में गिरधर नागर ने मीरा को छप्पन करोड़ देवताओं की साक्षी में ब्याह लिया है। ऐसे अलौकिक सुहाग की स्वामिनी मीरा ने स्वयं को पूरी तरह से गिरधर के रंग में रंग लिया है। उनके प्राणों में प्रतिपल ऐसे प्रियतम की प्रतीक्षा है। वे अपने रोम-रोम से गिरधर के आगमन का संदेश सुनना चाहती हैं, किन्तु ऐसे सुख के संयोग उन्हें बहुत कम प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि इन गिनती के संयोग क्षणों में वे आनंद से नाच उठती है। कहती हैं --

'सावन मां, उमग्यो म्हारो मण री मणक सुण्या हरि आवण री।'

और उनके लिए यह सावन जिसने विरह को अतिदीर्घ और असह्य बनाया है अपने समस्त वेभव समेत प्रिय हो उठता है। प्रिय के आने पर जैसे उनकी युगों-युगों की प्रतीक्षा पूरी होती है। वे कृष्ण से सदैव अपने नेत्रों के आगे बने रहने का अनुरोध करती हैं। ऐसे रसिक शिरोमणि करूणानिधान प्रिय से पल भर का भी बिछोह मीरा को सह्य नहीं है, किन्तु यह विछोह ही जैसे उनका एक मात्र प्राप्य है। वास्तविकता भी यही है। मीरा का प्रिय से मिलन केवल उनके अन्तर्जगत में ही संभव हुआ है। लौकिक जगत में प्रिय का चिर वियोग ही उनके जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई है। यहां प्रिय का साहचर्य या उनसे अपने प्रेम का प्रतिदान उन्हें प्राप्त नहीं हो पाया है। यह उनके कृष्ण के प्रति समर्पित जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है। चिर विरह के इस दुःख के सोने का सुहागा उनके प्रति बैर रखने वाले स्वजन और समाज हैं। इन अनुभवों से मीरा का अपने एक मात्र आश्रम व अवलंब से विछोह का दुःख और असह्य हो उठता है। विरह जनित भावस्थिति में उनमें संयोग की स्थिति का औत्सुक्य और चचंलता भावों की गहराई और प्रगाढ़ता में बदल जाते हैं। प्रेम यहां अधिक व्यक्त व्यापक और उदार होता दिखाई देता है। यहां मीरा अपनी धनीभूत पीड़ा के साथ जीवन और जगत के कण-कण के प्रति संबोधित हैं। उनकी आत्माभिव्यक्ति के इस रंग में उनका अद्‌भुत आत्म प्रसार लक्षित किया जा सकता है। इस विरह में मीरा की मनोदशाओं के विविध रूप प्राप्त होते हैं।

NMDC-066

अलौकिक प्रियतम के प्रति निवेदित मीरा की विरहाभिव्यक्ति में कभी-कभी निर्गुण संतों के रहस्यवादी स्वर की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। ऐसे प्रसंगों में उनकी प्रेम विफलता में आत्मा और परमात्मा के बीच जगत में घटित होने वाले विछोह का अर्थ भी देखा जा सकता है। मीरा ने यहां 'भव प्रवंच' को संतों के से विराग से ही देखा है। वे कहती हैं --

म्हारे आज्यो जी रामां, थारे आवत आस्यां सामां ।।टेक।।
तुम मिलियां में बोही सुख पाऊं, सो मनोरथ कामां।
तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज घामां।
मीरा के मन अवर न माने चाहे सुन्दर स्यामां।।

कबीर की तरह मीरा को भी विरह भुजंग डस गया है। कहती हैं --

विरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिवजावै।

विरह ने मन और काया पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया है। उन्हें देश-काल की कोई सुध-बुध नहीं है। सारी रात आंखों में कट जाती है। प्रिय को पत्र लिख भेजना चाहती है, किन्तु लिख नहीं पातीं। हाथ कांपते हैं, आंखों से आंसुओं की झड़ी लगा है। कोई ऋतु, कोई उत्सव, कोई त्यौहार अच्छा नहीं लगता। कहीं-कहीं मीरा ने विरह वर्णन की पारपरिक शैली का भी उपभोग किया है। उनके पदों में वर्षा ऋतु के उद्दीपक रूप में अनेक चित्र मिलते हैं। दादुर, मोर, पपीहा को वे उनकी प्रिय विछोह को उद्दीप्त करने वाली पारंपरिक भूमिका में ही देखती हैं। पपीहे से तो वे अत्यधिक दुःखी हो जाती हैं। उसे फटकारती हुई कहती हैं --

'पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।।टेक।।
सुणि पावेली विरहिणी रे, भारो राखेली पांख मरोड़।'

इसी पपीहे पर प्रिय से संयोग की स्थिति में वे निछावर हो जाने की बात कहती है। मीरा ने विरह को 'बारहमासा' में भी व्यक्त किया है तथा इसके अन्तर्गत वे प्रत्येक ऋतु की विरह के लिए दुःखदाई हो जाने वाली भूमिका का वर्णन करती है --

जेठ महीने जल बिणा पंछी दुख होई, हो।
मोर असाढ़ा कुरलहे, धन चात्रक सोई, हो।
सावण में झड़ लागियो, सखि तीजा खेले हो।
भादवै नदिया बहै, दूरी जिन मेले हो।

विरह की अतिपीड़ा में वे प्रिय की कठोरता के प्रति उलाहनों में व्यक्त होती हैं। उसे अत्यन्त कठोर हृदय वाला निर्भीही भी कहती हैं। पीड़ा का आधिक्य उनके लिए इतना असह्य है कि वे प्राण भी तज देना चाहती हैं। कहती हैं --

'विरह की मारी मैं बन डोलूं प्राण तजूं करवतल्यूं कासी।'

इस 'विरह समुंद' का पारे लगाने वाला 'हरि अविनाशी' ही है। मीरा उसके कारण 'जोगन' हो जाने की बात भी कहती है। उसी के लिए उन्होंने घर, संसार, स्वजन सब त्याग दिये हैं।

ये स्वजन मीरा की अनूभुतियों से सर्वथा अपरिचित और अनात्मीय हैं। वे मीरा की भाव विह्वलता की हंसी उड़ाते हैं। मीरा प्रिय के प्रेम और वियोग की पीड़ा मे दीवानगी की हद तक डूब जाती हैं। वे अपनी पीड़ा की नाना अनुभूतियों के साथ अति मुखर हैं और कुछ पदों में ढिढोरा पीट कर अपने प्रेम दीवानी होने की खबर देने के साथ-साथ प्रिय वियोग के लिए अभिशप्त प्रीति में किसी अन्य के न पड़ने की बात कहना चाहती हैं। यह वस्तुतः प्रेम की पीर की अतिशयता का ही व्यंजनापूर्ण कथन है।

HMDC-066

इस प्रकार मीरा का विरह, प्रिय विछोहजन्य पीड़ा की सघन मार्मिक अनुभूतियों की बड़ी वैविध्यपूर्ण और विश्वसनीय अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत विरह वर्णन के पारंपरिक रूपों का उपयोग करने के बावजूद मीरा उनके परिपाटीबद्ध रूपों का अनुकरण नहीं करती है।

11.8 सारांश

इस प्रकार मीरा का काव्य मध्ययुगीन भक्ति धारा के सर्वोत्तम सार की अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ लोकोन्मुख है। कबीर, रैदास, तुलसी आदि कवियों के समान मीरा की ईश्वर भक्ति उनकी वैयक्तिक मुक्ति का साधन भर नहीं है। मीरा अपने समय के समाज के सामाजिक-आर्थिक अन्तर्विरोधों के प्रति सजग हैं। वे मध्ययुगीन सामंती प्रवृत्तियों के प्रति संरक्षणशील राज परिवार की कुलवधू हैं। ऐसे परिवार के लिए नारी स्वाधीनता सर्वथा असह्य है। इसके अतिरिक्त मीरा राणा कुल की विधवा स्त्री है। वैधव्य के साथ ही समूचे समाज की स्त्री के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। राणा विक्रमाजीत भी अपने बड़े भाई की पत्नी मीरा के प्रति बहुत सजग और कठोर है। वह उनकी भगवद्भक्ति और साधु संगत के प्रति अनुदार है। इस प्रकार की समस्त बाधाओं से जूझती हुई मीरा की कृष्ण भक्ति उत्तरोत्तर दृढ़ और एकनिष्ठ होती है। वे कृष्ण के लोकरक्षक लोकरंजक स्वरूप का विधान करती हैं। वे अपने आराध्य की छवि का निर्माण करते हुए सगुण-निर्गुण काव्य परंपरा के परिपाटीबद्ध स्वरूपों का अतिक्रमण भी करती हैं। मीरा का विरह उनकी कृष्ण भक्ति की परीक्षा है। सामंती रूढ़ियों द्वारा प्रेरित अत्याचारों के विष तथा अलौकिक कृष्ण के विरह की अग्नि द्वारा परीक्षित मीरा का व्यक्तित्व मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का अनमोल रत्न है।

11.9 अभ्यास/प्रश्न

1) मीरा के काव्य के संदर्भ में मध्ययुगीन सामंती अन्तर्विरोधों का विश्लेषण कीजिए।

2) मीरा के काव्य में पुरूषसत्तात्मकता और रूढ़िवादिता का तीखा विरोध मिलता है, कथन की विवेचना कीजिए।

3) मीरा की भक्ति में उनके जीवनानुभवों की सच्चाई और मार्मिकता है, कथन से आप कहां तक सहमत हैं?

4) कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति का वैशिष्ट्य निर्धारित कीजिए।

5) मीरा के गिरधर नागर की छवि ईश्वर के सगुण-निर्गुण स्वरूप का अतिक्रमण करती है, कथन से अपनी सहमति का उल्लेख कीजिए।

6) मीरा के विरह में उनके लौकिक जीवन के अभाव के पक्ष की गहरी भूमिका है, इस कथन के प्रकाश मे उसकी विशेषताओं का निर्धारण कीजिए।

NMDC-066

इकाई 12 मीरा का काव्य सौन्दर्य

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 मीरा की कविता का विषय
12.3 मीरा की कविता में प्रेमानुभूति और प्रेम विह्वलता का चित्रण
12.4 मीरा की भाषा
12.5 मीरा की कविता का शिल्प विधान
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 अभ्यास/प्रश्न

12.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने मीराकालीन समाज, नारी पराधीनता, मीरा का सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, जीवन संघर्ष, मीरा की कृष्ण भक्ति तथा मीरा के विरह की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त की थी। इस इकाई में हम आपको मीरा की कविता से परिचित कराने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- मीरा की कविता की विषयगत विशेषता जान सकेंगे,
- मीरा की कविता में प्रेमानुभूति और प्रेमविह्वलता का अवलोकन कर सकेंगे, और
- मीरा की कविता की भाषागत और शिल्पगत विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

कबीर, सूर, तुलसी आदि संत कवियों के समान मीरा मूलत: भक्त हैं। उनका भावलोक आराध्य के प्रति उन्मुख नाना अनुभूतियों से सम्पन्न है। उनके अपने जीवन के सम-विषम्म अनुभव उसे और ग़हरा बनाते हैं। लोकजीवन से अकृत्रिम निकटता के चलते उनकी भाषा अर्थ की गहरी शक्ति से अधिक सक्षम और संवेद्य हो उठती है। संत समाज का निरंतर सम्पर्क भी इस अभिव्यक्ति को सहज कलात्मक सधाव प्रदान करता है तथा मीरा का सम्पूर्ण काव्य भावों की वैविध्यमय गहराई व अनूठी संप्रेष्यता से सज जाता है।

मीरा ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों का साक्षात्कार किया है। वे उनके प्रिय, पति, सखा और उद्धारक प्रभु हैं। इसके अनुरूप ही उनके भावजगत में उज्जवल रति, निर्दोष उन्मुक्तता, भावावेश और विनय आदि का प्रकाश दिखाई देता है। कृष्ण के प्रति दृढ़ अनुरक्ति ने मीरा के व्यक्तित्व को अद्भुत आत्मविकास दिया,है। वे स्वाधीन और गरिमामयी हैं। उनके जीवन के बड़े आध्यात्मिक उद्देश्य उन्हें संकीर्ण सामंती समाज की क्षुद्रताओं के प्रति विद्रोही और विरक्त बनाते हैं। मीरा की इस शक्ति से आहत पुरुष सत्तात्मक समाज हजारगुनी क्रूरता और कपट के साथ उनपर टूट पड़ता है, किन्तु मीरा विचलित नहीं होतीं। इस प्रकार मीरा की आत्माभिव्यक्ति में एक ओर यदि कृष्ण भक्ति का अमृत है तो दूसरी ओर इस अमृत के सहज प्रकाश में बाधक रूढ़िवादी समाज के निर्मम अत्याचारों के विषय से अनवरत संघर्ष भी है। संभवत: इसीलिए मीरा ने कृष्ण के लोकरक्षक, लोकरंजक स्वरूप में अपने जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति देखी है। कृष्ण प्रेम उन्हें जीवन के विषम और पीड़ादायी स्थिति से सहज ही मुक्त करता है। मीरा का यह प्रेम मानवीय, प्रगाढ़ और प्रत्यक्ष है। इसमें अतिशय तीव्रता है किन्तु यह उच्छृंखल नहीं है। कृष्ण की अद्भुत सम्मोहक छवि उन्हें प्रेम विवश कर देती है। उनका सम्पूर्ण अस्तित्व तीव्र उत्कंठित प्रेम की मार्मिक गुहार में रूपांतरित हो जाता है। मीरा का काव्य उनकी भक्ति की सहज अभिव्यक्ति है। मीरा में काव्य की कलात्मक निपुणता के लिए आग्रह या प्रयत्न नहीं है।

IGNOU

उनकी काव्यभाषा गहरी अर्थसम्पन्नता की शक्ति से अलंकार आदि का स्वाभाविक विधान करती है। उनके गीतों में गीतकाव्य परंपरा के उत्कृष्टतम के साथ-साथ लोकगीतों का मार्मिक अनुभव लोक खुलता दिखाई देता है। मीरा के पद गेय हैं। उनकी तीव्र भावनात्मकता उन्हें प्रगीत का महत्वपूर्ण शिल्प प्रदान करती है। मीरा के पदों में नाना शास्त्रीय रागों के प्रति अद्‌भुत अनुकूलता पायी गयी है। मीरा के काव्य में कला भावाभिव्यक्ति के अधिक आंतरिक और कारगर मूल्य के रूप में है। इन्हीं पक्षों का अध्ययन हम इस इकाई में करने जा रहे हैं।

12.2 मीरा की कविता का विषय

मीरा की कविता का विषय उनकी आत्मानुभूतियाँ और जीवनानुभव है। उनका आत्म उनके आराध्य 'गिरधर नागर' के विविध अनुभवों से विकसित और समृद्ध हैं। प्रेम ही उनके जीवन और भक्ति का सर्वोत्तम सार है। इस प्रेम की प्रेरणा मीरा स्वयं हैं। अपनी बाल्यावस्था में ही वे श्रीकृष्ण की कल्याणकारी मनोहर छवि की ओर आकृष्ट हुईं तथा यह रूपासक्ति उत्तरोत्तर दृढ़ और प्रगाढ़ प्रेम में रूपान्तरित होती गयी। मीरा की आत्माभिव्यक्ति की पुरुषासत्तात्मक तंत्र ने उनको मनमानेपन के रूप में प्रचारित किया। हमने देखा है कि मीरा किस प्रकार एक सामान्य स्त्री से भिन्न थीं। यही नहीं वे भक्ति आंदोलन के अन्य भक्तों से भी विशिष्ट थीं। कबीर या तुलसी जैसे संतों के लिए संसार के नाना प्रलोभन एक बड़ा संकट थे। स्वंय निर्बल पड़ने पर वे अपने प्रभु से आत्मबल और कृपा प्रदान करने की याचना करते थे। मीरा इस संसार या इसके संबंध और भोग-विलास आदि के प्रचण्ड आकर्षण से कभी विचलित नहीं हुईं, जबकि वे इनके बीचोबीच बैठी हुई थीं। वे इनसे सहज ही मुक्त या विरक्त थीं। गिरधर नागर से कृपा प्रार्थना वे भी करती हैं, परन्तु इसलिए कि इसी में उनकी आत्मा रमती है। वे कहती हैं:

म्हाँरी आसा चितवणि थारी, और णा दूजा दौर

उनका एकमात्र संकट कृष्ण से विछोह है। 'गिरधर नागर' के बिना उन्हें सब जग सूना लगता है। हरिविमुख संसार को वे 'दुर्जन या कूड़ा' कहकर धिक्कारती हैं। महल, अटारी, गहने, कपड़े से बांधकर रखना चाहने वाला राणा उनके लिए वृक्षों में करील के वृक्ष के समान बैरी और अप्रिय है। वे साफ कहती हैं कि –

'सीसोदो रूठ्यो म्हाँरो कोई करलेसी।
म्हे तो गुण गोविंद का गास्याँ, हो माई ।।टेक।।
राणो रूठ्याँ बाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्याँ 'कुम्हलास्या' हो, माई।

इस प्रकार गोविन्द का गुणगान ही मीरा की कविता का विषय है। गोविंद की शक्ति से मीरा निर्भय और विवेकवान होती हैं। मध्ययुगीन पुरुष सत्तात्मक समाज को मीरा की यह स्वाधीनता और साहस सह्य नहीं है। वह उन पर विपत्ति की तरह टूट पड़ता है। मीरा के आत्मनिवेदन में इन अमानवीय अनुभवों के अध्याय भी खुले हैं, किन्तु मीरा के गिरधर नागर ने उनके जीवन के समस्त विष को अमृत कर दिया है।

मीरा ने गिरधर नागर के रूप में साक्षात पूर्णता को वरण किया है। वे कहती भी हैं कि –

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बर पायो है पूरो।

ऐसा वर पाने को कभी वे पूर्वजन्म का भाग्य कहती हैं तो कभी इसे 'प्रीत पुराणी' के परिणाम के रूप में देखती हैं। इसमें उन्हें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे प्रियतम का प्रेम बड़े भाग्य से मिलता है। मीरा ने इस प्रेम को पाने के करोड़ों यत्न किये हैं। इन प्रयत्नों की पराकाष्ठा 'प्राणों को अंकोर कर दे देने' के

IGNOU

रूप में दिखाई पड़ती है। यह चरम समर्पण का वह रूप है जिसके लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दलित द्राक्षा की तरह स्वंय को निचोड़कर दे देने का रूपक दिया है। मीरा ने भी अपना सब कुछ मनमोहन पर वार दिया है। प्रेम और कलह के संसारी रूपों मात्र से परिचित समाज उनके इस अनूठे भाव को समझ नहीं पाता। वह उन्हें बिगड़ी हुई कहता है। मीरा को भी इस हरि विमुख लोक की कोई परवाह नहीं है। उनका एकमात्र अभीष्ट हरि से मिलन है। वे प्रत्येक क्षण इस मिलन की आशा और प्रतीक्षा से उत्कंठित हैं। अलौकिक प्रभु से लौकिक जगत में मिलन संभव नहीं। फलत: वे अपने रोम-रोम से साकार प्रतीज्ञा बन जाती हैं। वे एक ऐसी विरहिणी हैं जो प्रियतम के बिना क्षण भर भी जीना नहीं चाहतीं। उनका कुटुंब उनके हरि से मिलन का विरोधी है। वह उन्हें बंधन में रखने के अनेक उपाय करता है। कहीं-कहीं मीरा ने भी खण्डिता नायिका की तरह 'जोगिया' के अन्यत्र रम जाने पर उसे उलाहना दिया है। वे उस रसिक के कठोर हृदय की खबर लेती हैं। मीरा के लिए यह प्रीति दुखदांई तो हुई है, किन्तु यही उनका परम आकांक्षित है। वे जानती हैं कि इस दु:ख का उपचार भी गिरधर नागर के पास ही है। मीरा ने श्रीकृष्ण के लोक रक्षक लीलास्वरूप का भी चित्रण किया है। यहां वे प्रभु की भक्त वत्सलता के प्रसंगों का स्मरण करती हुई विनय के शांत परम भाव में भी अवस्थित दिखाई देती हैं। मीरा की आत्माभिव्यक्ति में उनके कृष्ण के प्रति अनुरक्तिपूर्ण विविध अनुभवों की ही प्रधानता है। उनका भक्त व्यक्तित्व अन्य भक्त कवियों के समान ज्ञान से नहीं अपितु प्रेम से रूपांतरित होता है। सतसंग आदि को उन्होंने अपने प्रिय से अतिशय और अनवरत निकटता के लिए चुना है। इस प्रकार वे अपने कृष्ण भक्त मन और प्राणों के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करती हैं और यह अब तक स्पष्ट हो चुका है कि इसके लिए उन्होंने कितना कठिन संघर्ष किया है। मीरा साधु समाज में रमती हैं। हरि स्मरण और हरिभजन के द्वारा उनका चित्त निरंतर उज्जवल होता है। वे अपने शीलव्रत में दृढ़ होती हैं। वे वही शृंगार करती हैं जो प्रिय को भाता है। इस प्रकार मीरा के सारे प्रयत्न अपने प्रियतम कृष्ण के मनोनुकूल बन उनमें समर्पित होने के लिए हैं। कहीं-कहीं वे काम, कोध, मद, मोह आदि में लिप्त आत्माओं को प्रभु के प्रति प्रेरित होने के लिए उपदेश भी देती हैं, किन्तु वह उनका प्रधान भाव नहीं है। मीरा की कविता उपदेश नहीं अपितु अनुभव प्रधान है। इसीलिए वे अन्य सगुण-निर्गुण कवियों से विशिष्ट हैं। मीरा की भक्ति और इस भक्ति के लिए उनका कठिन संघर्ष दोनों ही असाधारण है। मीरा का हरि विमुख अमानवीय संसार से संघर्ष एक सच्चाई है। कहना न होगा कि यह मात्र अपने भीतर के आलस्य, लोभ, प्रमाद या कामनाओं से संघर्ष जैसा आसान नहीं है। यह रूढ़िवादी सामंती समाज के प्रत्यक्ष अवरोधों से सीधी और बहुत कठिन लड़ाई है। ये शक्तियां बहुत संगठित और समृद्ध हैं। मीरा का काव्यलोक इन सामंती स्त्री विरोधी शक्तियों के अन्तर्विरोधों को भी उजागर करता है। मीरा ने इस समाज की वास्तविकता में अन्तर्निहित विडंबनाओं को भी रेखांकित किया है।

साधुसमाज में आत्माभिव्यक्ति के द्वारा ये सच्चाइयां सहज ही प्रकाशित हो जाती है। इसीलिए 'सतसंग' उनके लिए मात्र प्रभु से अनवरत निकटता का ही उद्यम नहीं है, अपितु इस समाज में मीरा स्त्री के प्रति असहिष्णु समाज के प्रत्येक अत्याचार को खोल कर कहती हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उनकी वैयक्तिक मुक्तिमात्र का साधन नहीं है। मीरा ने समूचे स्त्री समाज को पराधीन और व्यक्तित्वहीन बनाकर रखने वाले सामंती विधि निषेधों के लिए इस 'गिरधर नागर' के द्वारा भारी चुनौती दी है। भक्ति आंदोलन का मुख्य सार वर्णव्यवस्था विरोध के रूप में पहचाना जाता है। इसके द्वारा ऐसे कल्याणकारी ईश्वर का विधान संभव हुआ जिसने मनुष्य को वर्ण, जाति या संप्रदाय से ऊपर उठाकर उसे मानवमात्र की आत्मगरिमा में प्रतिष्ठित किया। मीरा के गिरधर नागर के द्वारा इस आंदोलन में स्त्री मुक्ति का पक्ष भी जुड़ा। यह अनायास नहीं है कि मीरा ने भक्त वत्सल प्रभु की करुणा को रेखांकित करने के लिए जिन प्रसंगों को चुना है वे प्राय: करमाबाई, अहल्या, गणिका, द्रौपदी आदि की मुक्ति से संबंधित है। उनके प्रभु जग का उद्धार करने वाले हैं और उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष, या ऊंची-नीची जाति में कोई भेद नहीं है। मध्यकालीन जड़ जाति व्यवस्था में जकड़े समाज में इस प्रकार के प्रसंगों का उल्लेख कितना कठिन और कांतिकारी रहा होगा, इसे सहज ही समझा जा सकता है। सामंती समाज के विषम अनुभव कबीर या तुलसी जैसे कवि के लिए भी कठिन हैं, किन्तु पुरुष होने के नाते पराधीनता उनका अनुभव नहीं है। मीरा ने 'पराधीनता' की अमानवीय यातनाओं को झेला है और व्यक्त किया है। प्रभु के प्रति समर्पित होती हुई मीरा अपनी आत्माभिव्यक्ति के द्वारा वस्तुत: अपने 'आत्म' का संधान भी करती है। यही कारण है कि उनकी कविता का विषय मात्र भक्ति भाव का

HMDC-066

निवेदन न होकर एक स्वाधीन स्त्री की आत्माभिव्यक्ति पर पहरे बैठाने वाले समाज के अनुभवों की भी अभिव्यक्ति है। संभवत: इसीलिए मीरा के यहां गोपन कुछ भी नहीं है; न तो उनका कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम जो अपनी अलौकिकता के बावजूद विकृत सामंती प्रवृत्तियों द्वारा लांछित किया जाता है और न इन प्रवृत्तियों के अधीन काम करने वाले समाज के अत्याचार। मीरा की यह समाज सजगता असाधारण है। उनकी भक्ति और उनका आत्मसंघर्ष दोनों की गति एक साधु और मानवीय समाज की रचना के प्रति है।

इस प्रकार मीरा का काव्य कृष्ण के प्रति उनकी अनुरक्ति और इस अनुरक्ति के प्रति प्रतिकूल समाज के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। वे अपने राग या भक्ति मात्र के प्रति एकाग्र समाज निरपेक्ष भक्त नहीं है। मध्ययुगीन समाज की वे प्रवृत्तियां, जो विशेष रूप से स्त्री के दमन के प्रति उत्तरदायी हैं, मीरा के काव्य में प्रश्नांकित हुई हैं। मीरा ने अभिव्यक्ति के लिए प्रगीत मुक्तकों का कलेवर चुना है। उनके पद उनके अनुभव के नाना हिस्सों से संबद्ध हैं और इनके भीतर एक महाकाव्यात्मक अन्तर्संबद्धता प्रवाहित है। मीरा की कविता के विषय पर विचार करते हुए हमें उनके पदों के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की पहचान करनी चाहिए। मीरा के पदों से उनका स्वयं का जो व्यक्तित्व उभरता है वह गरिमामय, साधु और साहसी है। कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम से उसे अमृत और गरल को अलग करके देखने की द्वन्द्वात्मक दृष्टि दी है। उनके द्वारा निर्मित श्रीकृष्ण की छवि में भी उनके अपने भाव-अभाव के विविध संदर्भ प्रतिबिंबित हुए हैं। कुल मिलाकर यह कृष्ण छवि अपने सौन्दर्य से ज्यादा अपनी सर्वजन उपकारक क्षमता के कारण मीरा के हृदय में बसती है। अपने आत्मनिवेदनों में मीरा अपने अभावों और दु:खों की गठरी खोलती अवश्य है किन्तु कहीं भी दुख से दबी हुई कातर या विगलित नहीं दिखाई देतीं। उनका आत्मबोध प्रखर और पूर्ण है। कहना न होगा कि कृष्ण उनकी पूर्णता के नियामक हैं।

12.3 मीरा की कविता में प्रेमानुभूति और प्रेम विह्वलता का चित्रण

मध्ययुगीन भक्तिकाव्य धारा में मीरा की पहचान श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अद्भुत अनन्य प्रेम भावना के द्वारा बनती है। यह अनुरक्ति अपने चरम रूप में घटित होती हुई उनके व्यक्तित्व का पर्याय बन जाती है। प्रेम स्वाभाविक रूप से एक व्यापक और उदात्त भाव है। इसकी प्रेरणा से मानवमन की समस्त ग्रंथियां खुल जाती हैं तथा वह अनवरत आत्मप्रसार को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि यह प्रेम 'गिरधर नागर' जैसा साक्षात पूर्णता के प्रति निवेदित हो तो इसकी शक्ति का कहना ही क्या? मीरा का 'गिरधर नागर' के प्रति प्रेम उनकी जीवनानुभूति से अभिन्न है। इसमें घुल-मिल कर मीरा ने अपना समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभव बांटा है या जिया है। वे इसे अपने जीवनानुभवों की शक्ति से विकसित करते हुए अत्यन्त अकृत्रिम और मानवीय धरातल प्रदान करती हैं। मीरा अपने प्रभु को अपनी लौकिक वेदनाओं और अपेक्षाओं के अनुरूप रचती हैं। इसलिए उनकी छवि यहां अन्य कृष्णभक्त कवियों द्वारा निर्मित छवि से विशिष्ट हो जाती है। निस्संदेह मीरा का प्रेम अलौकिक सर्वव्यापक प्रभु के प्रति है किन्तु यह एक कुलीन परिवार की स्त्री द्वारा कुल और समाज के विधि निषेधों के तिरस्कार के साथ घटित होता है। प्रेम तो प्रत्येक युग की स्त्री के लिए वर्जित फल है। मीरा ने इस वर्जित फल की मादकता के अनुभव का कोई वर्णन छोड़ा नहीं है। वे अपने प्रभु को अलौकिकता के रहस्य में छुपाकर स्त्री के लिए अपेक्षाकृत सुरक्षित पथ का चुनाव नहीं करतीं। वे अपने अलौकिक आराध्य में भी प्रणय के ऐसे उन्मुक्त और ऐन्द्रिक रंग भर देती हैं कि दोहरी नैतिकताओं वाला मध्ययुगीन सामंती समाज किंकर्तव्यविमूढ़ रह जाता है।

यही कारण है कि मीरा के इस आचरण को पूरे समाज के लिए भारी संकट मानते हुए वह मीरा के प्रति अपने व्यवहार की ऊपरी मानवीय खोल उतार कर सर्वथा निरंकुश और निर्भय हो उठता है। मध्ययुग में राजस्थान के सामंती समाज ने अपनी मिथ्याकुलमर्यादा के लिए स्त्रियों पर क्या-क्या कहर ढाए हैं, यह किसी से छुपा नहीं है, किन्तु मीरा के प्रेम के साहस और शक्ति के सम्मुख यह समाज अपने विधि-निषेध, शास्त्र, पुराण, लोकमर्यादा जैसे सारे स्त्री विरोधी अस्त्रों से सज्जित होने के बावजूद निहत्था साबित होता है। मीरा के प्रेम ने लोक में अपनी पवित्रता के प्रति विश्वास की अलख जगायी थी। राणा कुल और नारी निदंक समाज की सारी तैयारियां मीरा की इस व्यापक लोक स्वीकृति के

HMDC-066

सम्मुख निष्फल हुई। मीरा में कहीं कोई दुविधा या आडंबर नहीं था; न प्रेम को लेकर न ही रूढ़िवादी समाज के विरोध को लेकर और न ही इस प्रेम की सर्वथा छद्म रहित अभिव्यक्ति को लेकर।

मीरा का अन्तर्जगत सहज और निर्मल है। यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि उनमें स्त्रियों के लिए अति स्वाभाविक दुर्बलताएं या जटिलताएं नहीं है। संभवत: बाल्यकाल में ही उन्होंने जिस गिरधर छवि को अंतर में बसा लिया है उसने ऐसे रूग्ण, असुरक्षाबोध प्रेरित भावों के लिए वहां कोई स्थान ही नहीं छोड़ा है। आयु और जीवन संघर्ष के साथ विकसित और प्रगाढ़ होते हुए इस प्रेम ने मीरा को अद्भुत आत्मविश्वास प्रदान किया। इसकी ही शक्ति से मीरा ने स्त्री की अग्नि परीक्षाओं के अभ्यस्त समाज को कितनी ही बार निरुत्तर कर दिया। पूर्व उल्लेखों में हमने देखा है कि मीरा के लिए केवल संकीर्ण चित्त सामंती समाज संकट नहीं था, साधुवेशधारी असाधुओं से भी उनका संघर्ष हुआ। अपनी निर्भीकता और निर्मलता के द्वारा उन्होंने सहज ही ऐसे दुष्टों के समूचे कपट को खोल कर रख दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य स्त्रियों की तरह मीरा के भावलोक का कुछ भी गोपन या अबूझ नहीं है। वे अपने जीवन के प्रत्येक सत्य के साथ गिरधर नागर के प्रति निवेदित हैं

मीरा का रागजगत निर्कुण्ठ और स्वाभाविक होने के कारण ऊर्वर और गतिशील है। यह उन्हें शेष जगत के सत्य, शील और सौन्दर्य से जोड़ता है। उनके चित्त में इस प्रेम का एकछत्र राज्य है। पुन: कहना होगा कि वहां इस प्रेम का किसी प्रतिकूल भाव या प्रलोभन से कोई संघर्ष नहीं दिखाई देता। इसे इस तरह देखना चाहिए कि मीरा ने सायास इस प्रेम के प्रति अपने मन को पक्का नहीं किया है, बल्कि इस प्रेम ने अपनी गहराई और प्रसार के द्वारा मीरा को उनके आराध्य के प्रति एकनिष्ठ सहज प्रेम का पर्याय बना दिया है। श्रीकृष्ण को मीरा ने अपना 'सुहाग' माना है। अपने सुहाग के समान ही वे स्वंय भी शील, संयम, समर्पण और पातिव्रत्य में अनूठी हैं। अन्य सामान्य सुहागिनों की तरह वे अपने पति के प्रेम को वैयक्तिक अनुभव मानती हुई उसके प्रति संकीर्ण या संरक्षणशील नहीं हैं। उन्हें अपने प्रिय की जग के आर्तजनों के उद्धार के प्रति तत्परता सर्वाधिक प्रिय है। उनका प्रेमपथ सुविस्तृत राजपथ की तरह उदार है।

यद्यपि कुछ पदों में उन्होंने प्रेम की गैल के संकरे होने की बात कही है। वस्तुत: उन्होंने इस संकरेपन को अनेक प्रकार के विघ्नों और अवरोधों से युक्त होने के अर्थ में लिया है। वे इस पथ की विकटता भी चिन्हित करती है और बताती है कि इसपर अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर ही चला जा सकता है।

मीरा के कृष्ण 'चढ़ती हुई वय' के तिरछे सम्मोहक नेत्रों वाले अभिराम कृष्ण हैं। वे सुन्दर और रसिक हैं। उनके हाव-भाव सम्मोहक हैं। उनकी बंकिम छवि मीरा के हृदय में ऐसी अड़ी है कि उसका निकालना संभव नहीं है। इसे मीरा ने प्रेम की तीर का कलेजे में धंस कर वहीं धंसा रह जाना भी कहा है। कहीं-कहीं यह कलेजे को आर-पार भी कर गया है। यह एक ऐसा बंधन है जिसमें चंचल मन को भी बांध रखने की शक्ति है। मीरा के प्रेम की एकनिष्ठता के मूल में इसकी यही शक्ति है। मीरा ने इस प्रेम को नित्य नवीन और गहरा होता अनुभव किया है। वे सांवरे के रंग में रंगती जाती हैं। वे स्पष्ट कहती हैं कि तन-मन जाता है तो जाये, सीस ही क्यों न कट जाये, लोक की सर्वथा विमुखता भी स्वीकार हैं किन्तु गिरधर नागर से दूर रहना किसी प्रकार सह्य नहीं है। प्रेमजन्य मनोदशाओं का चित्रण करती हुई मीरा इस प्रेम के द्वारा मन व शरीर के अवश हो जाने की बात कहती हैं। उनकी यह अवश दशा स्त्री स्वातंत्र्य के विरोधी कुल और समाज को स्वीकार नहीं किन्तु प्रगाढ़ प्रेम में बेसुध मीरा को एकमात्र प्रिय के प्रति अपने प्रेम के निवेदन का ध्यान है। प्रिय की मोहक छवि को नेत्रों में बसाती हुई, उसकी चेष्टाओं को एकटक निहारती हुई, उसकी मीठी वाणी को रोम-रोम से सुनती हुई, मीरा कृष्णमय हो जाती हैं। वे गोपाल के संग-संग डोलना चाहती हैं। उनके निरंतर सान्निध्य के लिए वे धेनुचारी गोपों का वेश तक धारण करने की इच्छा करती हैं। प्रिय के संग की कामना ने उन्हें 'गुलफाम' बना दिया है। वे कृष्ण दरस का सौभाग्य पाने वाले वृन्दावन का तृण, कण तक हो जाना चाहती हैं। प्रेम के इस चरम अनुभव को व्यक्त करती हुई मीरा ने एक पद में संतों द्वारा निर्दिष्ट भक्ति के पथ की सीमाओं की ओर भी साभिप्राय संकेत किया है। उल्लेखनीय है कि चैतन्य महाप्रभु की

HMDC-066

मधुरा भक्ति में स्त्री भक्तों का प्रवेश वर्जित था। इस धारणा से जुड़ी हुई एक घटना मीरा के जीवन में भी घटी। संभवतः ऐसी ही धारणाओं की ओर संकेत करते हुए मीरा ने कहा कि

'गुरुजन कठिन कानि कासों री कहिए।
मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए।।

स्पष्ट है कि उन्हें गिरधर से मिलन की सहज रीति प्रिय है। मीरा कृष्ण के प्रति अपनी प्रीति के प्रत्युत्तर में उनसे और सघन प्रीति चाहती है। मीरा कहती हैं -

रमइया मेरे तोही सूं लायी नेह।
लगी प्रीति जिन तोडे रे बाला, अधिक कीजै नेह ।।टेक।।

मीरा कहती हैं कि प्रेम करने वाला तो बावला है किन्तु प्रेम को तोड़ने वाला क्रूर है। मीरा के प्रिय का मीरा से अबोला नहीं है। वह इन्हें तिरछे निहारता है, हंस कर देखता है और मीठी बाणी बोलता है। उसने आने का वचन भी दिया है, किन्तु आया नहीं है। मीरा उससे अभिसारिका की तरह मिलने जाती हैं। दिन-रात उसके साथ खेलती हैं। मीरा के सर्वस्व पर उनके प्रिय का अधिकार है। 'बेचे तो बिक जाऊं' की प्रेम पराकाष्ठा यहां है। कहीं-कहीं मीरा ने अपने अनमोल की कीमत पर गोविंद को मोल लेने की बात कही है। अपने प्रिय के चरित्र में दिव्यता का समावेश करती हुई मीरा ने उसके प्रतिक्षण मन में बसने का भाव व्यक्त किया है। ऐसे अविनाशी प्रियतम के साथ वे 'पंचरंग चोला' पहन कर 'झिरमिट' खेलने जातीं हैं। यह प्रिय उनका अमर सौभाग्य है। वे वैष्णव साधुओं जैसा तिलक, माला और शीलव्रत का शृगांर धारण करती हैं। कृष्ण के प्रति मीरा की प्रेमोन्मत्तता के प्रति नासमझ जड़ समाज उन्हें 'मदन बावरी' कहता है, किन्तु मीरा को इसकी कोई परवाह नहीं है। सीस कटा कर भी प्रेमपथ पर अडिग रहने का भाव मीरा ने यों ही नहीं व्यक्त किया है। कृष्ण के प्रति प्रेम की उन्हें बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है किन्तु इन सभी चुनौतियों से गुजरता हुआ उनका प्रेम और सघन तथा दिव्य हुआ है। राणा के दिये हुए विष ने न केवल इस प्रेम को और चमका दिया है, अपितु मीरा को अधिक निर्भीक भी कर दिया है। मीरा अपने देशकाल की स्वयं के प्रति संकीर्णता से क्षुब्ध तो है, किन्तु उनकी पीड़ा प्रियतम कृष्ण की निष्ठुरता है। प्रेम के प्रतिदान से वंचित मीरा प्रिय को अनेक प्रकार से उलाहना देती है। वे उसके सहज परहितकारी आचरण की याद दिलाती हैं। कभी-कभी उन्हें लगता है कि उन्हें प्रेमाभक्ति के विधि-विधानों का ज्ञान नहीं है अथवा प्रेम प्रदर्शन की कला में वे कच्ची रह गयी हैं। ऐसे प्रसंगों में वे उस योगी प्रियतम से प्रेम मार्ग बता जाने की विनती करती हैं तो कभी वे प्रेम के समस्त रहस्यों और नियमों के श्रेष्ठ ज्ञानी की तरह गहरे और उथले प्रेम का अंतर बताती हैं और कहती हैं कि अनेक प्रकार की विदीर्ण कर देने वाली बाधाएं ही प्रेम की परीक्षा है और ओछा प्रेम तो ऊंचाई से बहने वाले जल स्रोत की तरह है जो शीघ्र बहकर नष्ट हो जाता है। प्रेम के लिए मीरा ने जल तथा मछली, दीपक और पतंगा आदि का रूपक लिया है। यहां वे जल के लिए मीन की तथा दीप के लिए पतंग की एकनिष्ठता को प्रेमी के लिए आदर्श मानती हैं। कहीं-कहीं मीरा ने प्रिय की निष्ठुरता की अभिव्यक्ति के लिए उसे जल या दीपक-सा अपने प्रेमीजन की कामना और पीड़ा के प्रति बेपरवाह कहा है। इस प्रकार मीरा के राग जगत में सबसे तीव्र स्वर विरह का ही है। उनकी प्रेम विह्वलता के मूल में प्रिय-वियोग की पीड़ाएं भी हैं। प्रियतम का सौन्दर्य उन्हें बांधता है तो प्रिय से संयोग न होने की वेदना उन्हें विदीर्ण कर देती है। इस विवाद में उनके लौकिक जीवन के अभावों का स्वर भी शामिल है। वस्तुतः यह स्वर उनके प्रेम की एकनिष्ठता के साथ-साथ उनकी वेदना की प्रगाढ़ता का भी अन्तः स्वर है। इस प्रेम के प्रति अपने मन व काया की मति-गति के सर्वाधिक समर्थ उद्‌घाटक के रूप में मीरा ने अपने नेत्रों को चुना है। ये नेत्र उनकी प्रेमतन्मयता के अद्‌भुत व्यंजक हैं। अपने रोम-रोम से प्रिय की प्रतीक्षा बनी मीरा स्वयं को प्रायः घर की देहरी या द्वार पर खड़ा चित्रित करती हैं। मीरा ने नेत्रों का बड़ा सजीव व संवेदनशील वर्णन किया है। प्रियतम के बंकिम दीर्घ नेत्र ही उन पर सबसे गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। उनके अपने नेत्र भी उनसे कहीं ज्यादा सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि वास्तविकता हो या स्वप्न, प्रिय की रूपमाधुरी का संपर्क उनसे तो होना ही है। इन नेत्रों में मीरा ने कभी प्रभु का स्वरूप बसाया है तो कभी प्रतीक्षातुरता का। इस प्रकार इनके पास प्रतिक्षण प्रिय का अतिप्रिय काम है। मीरा के मन और काया की समस्त उन्मुक्तता इन नेत्रों में डोलती है। प्रिय की छवि के प्रति आतुर

HMDC-066

और समर्पित ये नेत्र पलकों को भी अचंचल कर लेने में माहिर हैं। इस प्रकार मीरा की प्रेमपरक मनोदशाओं में सबसे मार्मिक चित्रण इन नेत्रों का हुआ है। इनके बोलने-डोलने को पूरी तरह से प्रिय के अधीन बताती हुई मीरा वस्तुतः अपनी गहरी प्रेमासक्ति व्यक्त करती हैं। नेत्रों ने मीरा के प्रेम को एक सुदंर आरंभ ही नहीं दिया है, अपितु इसके चरम स्वरूप के विधायक भी ये नेत्र ही हैं। आनंदातिरेक के परम भाव या प्रिय विरह की विदीर्णकारी स्थिति में जल से परिपूर्ण होकर ये नेत्र ही मुखर होते हैं। मीरा ने स्पष्ट कहा है कि उनके नयनों को प्रिय छवि की बान (आदत) पड़ गयी है। इस प्रकार मीरा के नेत्र उनके व्यक्तित्व से भी ज्यादा स्वाधीन है। वे वही करते हैं जो उन्हें प्रिय है। मीरा ने नेत्रों को अपने नेह और व्याकुलता की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक समर्थ माध्यम के रूप में चित्रित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गिरधर नागर के प्रति मीरा की भावनाएं व अनुभूतियां तीव्रतम और सक्रिय हैं। उनका आत्मनिवेदन, अपने प्रेम के विश्वास से पुष्ट प्रिय पर उनका अधिकार भाव, प्रियतम की निष्ठुरता के प्रति उपालंभ या प्रिय के प्रति उनका आकर्षण, समर्पण आदि भाव, भावों के तीव्र संवेगों से युक्त हैं। मीरा की प्रेम सघन भाव दशा में गूढ़-गोपन आशयों की छायाएं नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व की निर्भीकता ने उन्हें सहज और स्पष्ट आत्मप्रकाशन का कौशल दिया है। उनके पदों के संक्षिप्त क्लेवर में यह सहजता भावों की अगाध गहराई में प्रेमोन्मत्तता का तीव्रतम आंदोलन रचती है तथा इस आंदोलन में जग के समस्त क्षुद्र और कुबुद्धिपूर्ण को ठेल कर अलग कर देने की क्षमता है। प्रेम को मीरा ने न केवल स्वयं के अपितु मनुष्य मात्र के परम साध्य और जीवन सार के रूप में पहचाना है। मीरा की प्रेम-विह्वलता की प्रेरक श्रीकृष्ण से चरम एकात्म की वे भावनायें हैं जिनमें आत्मसमर्पण के औदार्य व निष्ठा के साथ-साथ प्रिय से प्रेम के प्रतिदान की सहज मानवीय अपेक्षायें भी हैं। कुछेक पदों में मीरा ने भी 'प्रेम' को ज्ञान से अधिक 'काम्य' और सार्थक कहा है। मीरा ने प्रेम को जीवन को मानवीय, उदात्त और समर्पणशील बनाने वाली शक्ति के रूप में चित्रित किया है। कहना न होगा कि कृष्ण जैसे प्रियतम के सतत् नैकट्य के लिए यह प्रेम साधन भी है और साध्य भी।

12.4 मीरा की भाषा

मीरा मूलतः भक्त है। उनका काव्य उनकी भक्ति भावना का सहज प्रकाशन है। यह अभिव्यक्ति उनके व्यक्तित्व की सहजता और मानवीयता से अभिन्न है। भक्ति ने उन्हें उदात्त, निर्कुण्ठ और निर्वैयक्तिक बनाया है। मीरा की काव्य भाषा का स्रोत उनके अपने जीवनानुभव हैं। मीरा ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एक अनुकूल और उन्मुक्त वातावरण निर्मित करने का संघर्ष किया। साधु समाज में उठना-बैठना, भजन-कीर्तन आदि उनका एक ऐसा ही प्रयत्न था। इस समाज में प्रभु की बंदगी चाहने वाले प्रत्येक भक्त का स्वागत था। मीरा के भाव-जगत, भाषा और शिल्प को इन संतों की अभिव्यक्ति विधि ने अवश्य प्रभावित किया होगा। इसके अतिरिक्त, लोक -जीवन से मीरा की गहरी निकटता थी। उनकी अकृत्रिम, आडंबर से पूरी तरह से मुक्त किन्तु अभिव्यक्ति सक्षम तथा कला को जीवनी शक्ति से संयुक्त कर रूप लेने वाली भाषा का स्रोत यह लोक-जीवन ही है। राग-विराग को कहने-सुनने के लोक प्रचलित रूपों का मीरा ने बहुत सुन्दर उपयोग किया है। उनकी भाषा सादी, सहज और मार्मिक है। उसमें जीवन के सहज रागात्मक मानवीय स्रोत खुलते हैं। गतिशील और मानवीय आशय का विकसित स्वरूप उनकी भाषा की स्वाभाविक प्राणवत्ता का विधान करता है। वस्तुतः मीरा ही नहीं, अपितु समूची भक्ति परंपरा का काव्य अपने अर्थ की गहरी शक्ति पर निर्भर है। भक्त कवियों का भाव - जगत भावों और अनुभवों से संपन्न है। जीवन से सहज रागात्मक जुड़ाव के चलते उनकी यह अनुभव समृद्धि बढ़ती जाती है और भाषा की क्षमता में भी निखार आता है। समाज में निर्कुण्ठ मिलने-जुलने से उसमें एक अनूठी सार्वदेशिकता रूप लेती है। इस दृष्टि से कबीर आदि संत कवियों के समान ही मीरा की भाषा भी अपनी जनोन्मुखता के कारण निखरती चली गयी है। उसमें अर्थ को वैविध्य में रचने की अद्भुत क्षमता आयी है। मीरा के व्यक्तित्व में कहीं कोई छद्म नहीं है। उनका प्रत्येक अनुभव व्यक्त होने के लिए है। इसके अन्तर्गत कोई भी भाव किसी भी कारण से मीरा के लिए दुविधा नहीं है। मीरा की काव्य रचना की पूरी प्रक्रिया में उनका कोई सत्य संसार से ओझल रखने के लिए नहीं है। इसलिए किसी प्रकार की रहस्यात्मकता या कविता की जटिल अन्विति मीरा का प्रयत्न

HMDC-066

नहीं है। मीरा का सत्य गहरा, छद्म-रहित और संबोधित है। मीरा इसे जग के ज्ञान और अनुभव का हिस्सा बना देने के लिए व्यग्र हैं। कहती हैं --

> माई री म्हा लियां गोविन्दा भोल ।।टेक।।
> थे कह्यां छाणे म्हां काचोड़डे लिया बजन्ता ढोल।

मीरा की अभिव्यक्ति का संबंध उनके भावों से है। ये भाव अपनी आंतरिक रागात्मक अन्तर्संबद्धता के साथ उनके संक्षिप्त कलेवर वाले पदों में एक संश्लिष्ट अन्विति लेते हैं। उनके पास कहने के लिए आत्मानुभूति के तमाम गहरे सघन रूप हैं तथा इनमें उनके आत्मसंघर्ष का सत्य भी शामिल है। इस प्रकार के आत्मनिवेदन से मीरा की एक आत्म-छवि भी उभरती है, किन्तु वे यहां कमिक विकास की सुविस्तारित अन्विति संपन्न कथा नहीं कह रही हैं और न ही कोई चरित्र गाथा। इसलिए उनके पदों में अनेक भावों की पुनरावृत्ति भी है। मुक्तक पदों में भावों की संक्षिप्त अन्विति की स्थिति में भाषा का काम और महत्वपूर्ण हो जाता है। भाषा का काम अनुभूति की समग्रत: अभिव्यक्ति है। अर्थ की शक्ति के द्वारा अभिव्यक्ति क्षमता सम्पन्न कवियों को भी शब्दों को अनुभूति के प्रति अपर्याप्त कहते सुना गया है। मीरा भी कहीं-कहीं अपने सघन प्रेम या प्रेम पीर के अनुभव से जग के अभिज्ञ रह जाने की बात कहती हैं, किन्तु यहां वे भाषा के असामर्थ्य से अधिक अपने गहरे भावों के प्रति जग की अभिज्ञता ही चिन्हित करना चाहती हैं। गिरधर विमुख जग में उनके सत्य से साक्षात्कार की क्षमता कहां?

मीरा की भाषा मुख्यत: राजस्थानी है। कुछ पदों में ब्रज और गुजराती भाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है। मीरा की भाषा में पंजाब, मध्यप्रदेश और पूर्वी प्रदेशों की प्रचलित भाषा के कुछ शब्द भी मिल जाते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मीरा के पद मौखिक परंपरा में सर्वाधिक प्रचलित हुए, इसलिए उनकी भाषा का अपने मूल रूप में बने रहना संभव नहीं लगता। उनके कई पदों के भिन्न-भिन्न रूप मिल जाते हैं, अर्थात् लोक उन्हें अपने अनुरूप ढाल लेता है। इसलिए मीरा की भाषा में शब्दों का जो वैविध्य दिखाई देता है या कई भाषाओं की जो झलक दिखाई देती है उसके मूल में यह कारण भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त मीरा ने अपनी भक्त मण्डली से बहुत कुछ सीखा है। कबीर आदि संत कवि भ्रमणशील थे। इसके चलते वे कई भाषाओं के संपर्क में आये तो मीरा की साधु मण्डली में भी कई प्रदेशों के संतों का आना-जाना था। मीरा उन्हें सुनती और उनसे सीखती भी रही होंगी। उनकी भाषा को इस संदर्भ में भी देखना चाहिए। मीरा राजस्थान की थीं। राजस्थानी उनकी अपनी भाषा है। राजस्थानी भाषा को मीरा ने गहरी व्यंजकता में साधा है। वे इस भाषा के लोकचित पर चढ़े मुहावरों का बड़ा सुंदर उपयोग करती हैं। इस भाषा की बिम्ब निर्माण क्षमता और अर्थ सन्दर्भता पर मीरा की सहज पकड़ है। गुजराती और ब्रज का भी मीरा ने साधिकार प्रयोग किया है। उनकी भक्ति के समान ही उनकी भाषा में भी नाथ-सिद्ध भक्तों की परंपरा के साथ-साथ सगुण भक्त कवियों का अर्जित भाव उनके अर्थ को अधिक सजीव बनाता हुआ शामिल होता है। उनके कृष्ण-प्रेम में जीवन की गहराई और वैविध्य तो है ही, साथ ही स्त्री जीवन के आघातपूर्ण अनुभव उनके संवेगों को आत्यान्तिक और तीव्र बनाते हैं। मीरा का बल उनके सहज भाव या मर्म पर है। उनके पदों की भाषा चाहे वह राजस्थानी हो या पंजाबी इस मर्म को उद्घाटित करने में समर्थ है।

मीरा की काव्य भाषा का प्रधान कार्य कृष्ण-स्वरूप व इस स्वरूप के प्रति उनके एकान्त सघन प्रेम का निवेदन है। कृष्ण छवि के निर्माण में उनकी प्रतिमा कृष्ण भक्ति परंपरा से द्वन्द्वात्मक अन्तर्संबंध के साथ दिखाई देती है। उनके द्वारा निर्मित कृष्ण छवि का सम्मोहन बहुत सघन प्रभाव छोड़ने वाला है। मीरा ने इसके तथ्यात्मक चित्रण की अपेक्षा इसके प्रभाव को ही व्यक्त किया है। वे उनके सौन्दर्य को उसकी रीझने-रिझाने की क्षमता में ही देखती हैं।-

> हे मां बड़ी-बड़ी अंखियन वारो, सांवरो मोतन हेरत हंसिके ।।टेक।।
> भौंह कमान बान बांके लोचन, मारत हियरे कसिके।

या-

HMDC-066

थारो रूप देख्यां अटकी ।। टेक ।।
कुल-कुटुंब सजण सकल बार-बार हटकी।
बिसद्‌चांणा लगण लगा मोर मुकुट बटकी।

मीरा द्वारा निर्मित कृष्ण छवि सहज उल्लास और कर्म से दीप्त है। उनके अंग-प्रत्यंग में जीवन की अद्‌भुत गति और लास्य है। मीरा को भी अन्य कृष्ण भक्त कवियों के समान कृष्ण की बंकिम छवि अतिशय प्रिय है। नटवर नागर की इस वक्र-भंगिमा को मीरा ने परंपरा से लिया है, किन्तु इसका इसके आड़ेपन के कारण हृदय में धंस कर वहीं धंसा रह जाना मीरा का अपना विशिष्ट अनुभव है। इस प्रकार मीरा की भाषा उनके आराध्य के अनूठे सौन्दर्यानुभव के लिए जो बिम्ब विधान अपनाती है उसमें परंपरा में प्रचलित को भी नया बनाकर प्रस्तुत करने की क्षमता है। मदनमोहन के रूप के अनुभव को मीरा ने 'अमृत' कहा है। सूर की राधा और गोपिकाओं को भी कृष्ण का यही चपल, गतिशील और लीला पुरूषोत्तम रूप प्रिय है। वहां ये गोपिकायें सूर और कृष्ण के बीच में हैं। मीरा और कृष्ण का संबंध सीधा और प्रत्यक्ष है। इनका शिल्प भी प्रायः आत्मकथन है। भक्ति आंदोलन ने ब्रजभाषा को काव्य भाषा के रूप में स्थिर कर उसे लंबा जीवन प्रदान किया। विशेष रूप से सूर के कारण इस भाषा की शक्ति सर्वाधिक निखरी। इसी प्रकार, मीरा के कारण राजस्थानी भाषा को काव्य भाषा की मार्मिकता और नाटकीयता प्राप्त हुई। इस भाषा के सामर्थ्य का दूसरा महत्वपूर्ण रूप हम मीरा के सघन सम्पन्न मनोजगत के प्रकाशन के संदर्भ में देखते हैं। यहां इसकी सहजता देखते बनती है --

देखा माइ हरि मण काठ कियां ।। टेक ।।
आवण कह गया अजा ण आयां, कर म्हारे कोल गया।
खाणा पाणा सुध बुध सब बिसर्‌या, काई म्हारे प्राण जिया।

इस प्रकार मीरा के शब्द प्रगीत के वृत्त का निर्वाह करते हुए मुख्यार्थ के प्रति केन्द्राभिमुखता के साथ एक तराश लेते हैं। यहां वे अपने प्रचलित रूपों से किंचित भिन्न भी हो जाते हैं, किन्तु इस प्रकार ये खण्डित या विकृत न होकर अधिक काव्यात्मक और सटीक हो जाते हैं। उनके समस्त पदों में संरचना की यह संश्लिष्टता दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त मीरा की भाषा में शब्दों के बीच साहचर्य और समायोजन का संबंध दिखाई देता है। वे सामान्य से सत्य को नाटकीय वक्रता या गहरी व्यंजना प्रदान करते हैं। यह नाटकीयता उनके विरह के पदों में सर्वाधिक उभरी है। वे प्रिय मिलन की उत्सुकता, दीवानगी या तड़प की पूर्व प्रचलित अवधारणाओं का ही उपयोग करती हैं, किन्तु उनकी वाणी में सजकर ये भाव अनूठे हो जाते हैं, जैसे --

ऐसी लगन लगाइ कहां तू जासी ।। टेक ।।
तुम बिन देख्यां कल न पड़त है, तलफ तलफ जिवजासी।

यही नहीं, अपने आराध्य के लिए उन्होने समस्त पारंपरिक संबोधन चुने हैं, किन्तु प्रत्येक पद में यह संबोधन बहुत जागृत और नवीन सा लगता है। मीरा लोक-प्रचलित भाषा को उसके समस्त मुहावरों के साथ उठा लेती हैं और उसमें अपना हृदय खोल देती है। यही कारण है कि मौखिक परंपरा में मीरा के पद न केवल बहुत स्वीकृत हुए हैं, अपितु इनमें रूपान्तरण का असाधारण लचीलापन भी रहा है। महत्वपूर्ण यह कि इस प्रकार निरंतर बदले जाकर भी मीरा के पद कहीं विकृत नहीं हुए। उनके पदों के नाना परिवर्तित रूपों को लेकर देखा जा सकता है कि उनके अपने अर्थ को कहीं कोई क्षति नहीं पहुंची है। वस्तुतः यह लोकभाषा की क्षमता है। यह भाषा वह 'बहता नीर' है जिसमें सबका अर्घ्य अक्षत रूप में समाहित हो जाता है। मीरा के काव्य में 'अर्थ' मात्र संरचना नहीं है, अपितु अनुभूति की संश्लिष्ट व समग्र अभिव्यक्ति है। मीरा की आत्मानुभूति के कुछ निर्णीत बिन्दु हैं और उनका काव्य संसार इन्हीं बिन्दुओं के इर्द-गिर्द बुना जाता है। ये बिन्दु प्रियतम की सौन्दर्यानुभूति, उनके प्रति भावों के निवेदन या विरूद्ध संसार के कारण कठिन हुए प्रेमपथ के संघर्ष के अनुभव के हैं। इस प्रकार मीरा का प्रमुख अनुभव प्रेम या विरह का कोमल, आत्मीय या माधुर्यपूर्ण है। इन भावों के संदर्भ में मीरा की भाषा की छटा अद्‌भुत है। यह यहां स्निग्ध भाव व्यापार के अनुरूप प्रवाहमयी, गहरी और लास्यपूर्ण

HMDC-066

है। मीरा की भाषा में प्रखर पुरुष भावों के मोड़ भी आते हैं। ये वे स्थल हैं जहां मीरा हरिविमुख लोक को बेलाग भाव से धिक्कारती हैं, कहती हैं --

दुरजन जलो ना अंगीठी

अथवा

यह संसार कुबुधि रो भांडो।

अथवा

थारे देस राणा साध नहीं छै लोग बसें सब कूड़ो।

इत्यादि। ऐसे प्रसंगों से मीरा के व्यक्तित्व की तेजस्विता और निश्चय प्रकट होता है। मीरा ने लोक-प्रचलित उक्तियों तथा दृष्टांतों का बहुत सुन्दर साभिप्राय प्रयोग किया है। इन उक्तियों में प्रवाहित जीवनराग को कहीं से बदले बिना वे अपनी भाषा में ले आती हैं तथा अपनी अनुभूति की गहरी और व्यापक संदर्भता के साथ उसे जोड़ देती हैं। जैसे --

आंबा की डालि कोइल इक बोले, मेरो मरण अस जग केरी हांसी।
अथवा
एकै थाणे रोपिया रे, इक आंबो इक बूल
बाको रस नीकौ लगैरे, बाकी लागै सूल

आदि। वस्तुत: ये उक्तियां, मुहावरे या दृष्टांत लोक जीवन व साहित्य में अपनी बहुप्रयुक्तता के बावजूद घिसे हुए न होकर अधिक अर्थवान और दीप्त हैं। मीरा की भाषा को सहजता के निर्माण में इस प्रकार के प्रयोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है। ऐसे प्रयोगों द्वारा मीरा उन गहरे अर्थसंकेतों का निर्माण करती है जिसके द्वारा उनके निहितार्थ खुलते और गतिशील होते हैं। मीरा की भाषा के जिम्मे उनकी सूक्ष्म व गहन प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति का कठिन काम है। यह एक स्त्री का प्रेम निवेदन है तथा बहुत निर्भीक और प्रत्यक्ष है। दूसरी तरफ, मीरा के प्रति शंकालु संकीर्ण समाज अपनी पूरी तैयारी के साथ बैठा है। उसे मीरा की अभिव्यक्ति में जरा से विचलन की गुंजाइश मिल जाये तो वह निंदा और तिरस्कार का पहाड़ खड़ा कर सकता है। मीरा ने अपनी प्रेमोन्मत्तता को कहीं छिपाया नहीं है, किन्तु इस बेसुधी में भी संयम का वह आंतरिक अनुशासन है जिसके कारण मीरा स्वाधीन और समर्पित तो हैं किन्तु उच्छृंखल नहीं हैं। उनकी प्रणय भावना के ऐन्द्रिक चित्रण में भी सात्विक और दिव्य रंग उभरे हैं। श्रीकृष्ण छवि, लीला या प्रेम के चरम अनुभव से परिपूर्ण मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के संदर्भों में उनकी भाषा की बिंब निर्माण क्षमता अद्‌भुत है। वस्तुत: अर्थ समृद्ध भाषा का सबसे उपयोगी औजार बिंब होते हैं। इन्हें प्राय: कवि की क्षमता का निर्णायक समझा जाता है। मीरा की भाषा के लिए समूचा पदार्थ भावनात्मकता या कल्पना का है। मीरा का भावजगत ठोस न होकर सूक्ष्म और तरल है। ऐसे में अमूर्तन के खतरे बढ़ जाते हैं, किन्तु मीरा के भाव प्रत्यक्ष जगत के रंग-रूप रसगंध से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष हो उठते हैं। भाषा इन्हें अस्पष्ट या तारतम्यहीन नहीं रहने देती। उनके पदों से ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें भाषा भावों की सूक्ष्मता को उजागर करने के लिए नाटकीय गत्वर चित्रों का विधान करती है। जैसे --

गहे द्रुम डारि कदम की ठाड़ो मृदु मुस्काय म्हारी ओर हंसो

अथवा

णेणाँ बणज बसावाँ री, म्हारा साँवरा आवाँ। ।टेक।।
णेणाँ म्हाराँ साँवरा राज्याँ, डरता पलक णा लावाँ।

HMDC-066

अथवा
म्हाँ ठाढ़ी घर आपणे मोहन निकल्याँ आय।
बदन चंद परगासताँ, मंद मंद मुसकाय।

इस प्रकार मीरा सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी गति और मुद्राओं के नाटकीय प्रयोग करती हैं जिनसे उनका कथन और मार्मिक तथा संवेद्य हो उठता है। जैसे---

दरद की मारयां दर-दर डोल्या बैद मिल्यां णा कोय

जैसी पंक्तियों में उनकी यह शक्ति देखी जा सकती है। मीरा की भाषा में शब्द ध्वनि सक्षम है। वे उनके भाव-जगत को बाह्य जगत के जीवन रव से जोड़ देते हैं। उनके सूक्ष्म भावों का अन्त:स्वर तो रसमय जगत का संपूर्ण रूप रचता ही है, साथ ही नाना ऋतुयें, तीज, त्यौहार, पर्व, संध्या, दिन, रात पशु-पक्षी आदि भी एक अनूठे ध्वनि सौन्दर्य का विधान करते हैं। यहां भी मीरा ने लोकस्मृति के जीवित और गतिशील को सहज ही अपना लिया है। दादुर, मोर, पपीहा के स्वर और भूमिकायें वहीं हैं। 'प्रेमनी' और 'विरहिणी' के प्रति उनके निश्चयों में कोई अंतर नहीं आया है।

मीरा की भाषा में सर्वाधिक अद्भुत व्यंग्य की आंतरिक धार है। देशकाल के विषम, विडंबनापूर्ण अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए मीरा इनका उपयोग करती हैं। यहां उनके आवेश का आंतरिक थिराव व तीक्ष्णता असाधारण है। ये प्रसंग प्राय: राजसत्ता, छद्म कुल मर्यादा के प्रति संरक्षणशील समाज और स्त्री पराधीनता से संबद्ध हैं। एक स्थान पर वे दुर्मति राणा को धिक्कारती हुई कहती हैं -

अपणे घर का परदा करले, मैं अबा बौराणी

ऐसा ही एक प्रसंग 'राजसत्ता' के अन्तर्विरोधों को लक्ष्य करने का है जहां वे विधि के विडंबनापूर्ण विधान के आश्रय से यह सत्य उद्घाटित करती हैं। कहती हैं --

विध विधणा री न्यारां
दीरघ नेण मिरघ कूं देखां कणलण फिरतां मारा।

वगैरह। प्रीति निर्वाह के प्रति बेखबर अपने प्रियतम 'जोगिया जी' की खबर लेने के प्रसंगों में भी मीरा की व्यंग्य क्षमता और उक्ति चातुर्य पहचाना जा सकता है। जहां तक भाषा में अलंकरण का प्रश्न है तो मीरा की भाषा में शब्दालंकारों या अर्थालंकारों के कई प्रयोग हैं, किन्तु मीरा इन प्रयोगों के प्रति बहुत सचेतन या आग्रही नहीं है। वैसे उनकी भाषा में रूपक, उपमा या उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों का सुन्दर प्रयोग मिल जाता है।

अत: कहा जा सकता है कि मीरा की भाषा की सहजता के मूल में उनकी सहज अकुंठ जीवनानुभूति की शक्ति है। मीरा ने भावनाओं की गहराई का जीवन जिया है, उनके स्वप्न भी अरूप या जटिल नहीं हैं, न उनके राज जगत में कोई उलझाव है। इसलिए भाषा की सहज संवेद्यता मीरा के लिए कठिन नहीं है। यह उनसे ऐसे ही अनायास सध गयी है जैसे कठिन बाधाओं के बावजूद उनकी भक्ति और अनुरक्ति सधी है। उनकी काव्य भाषा में सहजता और निरलंकृति आंतरिक और अनुभव समृद्ध काव्य मूल्य के रूप में विकसित हुए हैं। इस दृष्टि से मीरा की कविता बेजोड़ है।

12.5 मीरा की कविता का शिल्प विधान

प्रगीत आत्मपरक काव्य की विशिष्ट संरचना है। मीरा ने आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रगीतात्मक मुक्तक पदों के शिल्प का चुनाव किया है। वस्तुत: प्रगति के शिल्प का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास कृष्ण भक्त कवियों की काव्य रचनाओं द्वारा प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण का लीलामय सुन्दर स्वरूप ही नृत्य, संगीत, गीत,

HMDC-066

चित्र और मूर्तिकलाओं का स्रोत है। कृष्ण भक्त कवि अपनी काव्य प्रक्रिया में इन समस्त कलाओं की संकल्पनाओं का सुन्दर उपयोग करते हैं। श्रीकृष्ण की छवि, उनकी मुद्रायें, उनके पदक्षेप और चितवन आदि समस्त हाव-भाव इन कलाओं की अभिव्यक्ति क्षमता के उपयोग से एक समग्रतामूलक कलात्मक अन्विति बन कर प्रस्तुत होते हैं। वहां निहित भाव, कथ्य, घटना या प्रभाव आदि इनके संयोग से अधिक संश्लिष्ट तथा ललित हो जाते हैं। काव्य और इन कलाओं के बीच संबंध परस्पर पूरक और प्रेरक है। यही कारण है कि कृष्णचरित केवल काव्य का विषय नहीं है, मध्यकाल में विकसित होती हुई चित्रकला और मूर्तिकला ने इसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। जयदेव का 'गीत गोविंद', विद्यापति के कृष्ण भक्ति विषयक पद, सूर का काव्य आदि मध्यकाल से आज तक भितिचित्रों, पेंटिंग्स और मूर्तिकला आदि का सहज-स्वीकृत विषय है।

कोई भी काव्य रूप मात्र संरचना नहीं है, अपितु वह एक समग्र अन्विति है, जिसके अन्तर्गत अन्तर्वस्तु, संवेदना और अभिव्यक्ति विधि का आंतरिक सामंजस्य होता है। किसी भी कलाकृति में उसके विधायक तत्वों का आंतरिक संयोजन या संश्लेषण महत्वपूर्ण होता है। इन तत्वों की परस्पर आंतरिक अनुकूलता के द्वारा ही कला के समग्र प्रभाव की सृष्टि होती है। काव्य की यह प्रक्रिया बहुत सूक्ष्म और आंतरिक है तथा यह पूरी तरह से रचनाकार की अनुभव समृद्धि, प्रतिभा और कलाविवेक पर निर्भर है। कृष्ण भक्ति के द्वारा मीरा को भावसमृद्धि और आत्मविस्तार ही नहीं प्राप्त हुए, अपितु उनका भावलोक सम-विषम जीवन के अनुभवों से संपन्न हुआ। जीवन और जगत को देखने-समझने की उनकी दृष्टि वस्तुपरक होती गयी। मीरा विदुषी तो थी हीं। उन्हें विविध कलाओं को जानने-समझने का परिवेश भी मिला था। उनका अनुभव जगत सामंती राजघराने से लेकर लोक जीवन तक फैला हुआ था। लोक और शास्त्र के द्वन्द्व को समझने का सर्वाधिक संभावनापूर्ण परिवेश मीरा को ही प्राप्त था। ये अनुभव उनके आत्मसंघर्ष से अभिन्न थे किन्तु ये मीरा का बंधन न होकर उनके विकास और आत्मप्रसार का कारण बने। यही कारण है कि मीरा का काव्य आत्मपरक तो है किन्तु वैयक्तिकता की सीमाओं में आबद्ध अमूर्त या रहस्यात्मक नहीं है।

इस प्रकार मीरा प्रगीतात्मक चेतना की रचनाकार हैं। उनके पदों में भावों, स्थितियों या मनोदशाओं की विरूद्ध स्थितियों के बीच नाटकीय द्वन्द्व और तनाव का संबंध है, किन्तु अपनी रचना प्रक्रिया में वे रचना के आंतरिक अवयवों को परस्पर अनुकूलता में साधती हुई आकांक्षित परिणति या निष्कर्ष तक ले आती हैं। उनका प्रत्येक पद एक अखंड इकाई है जिसके अन्तर्गत उनका सत्य अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तर्बाह्य अवयवों से रचनात्मक संगति के लिए प्रयत्नशील है।

मीरा के पदों में सघन व तीव्र आत्मानुभूतियों का प्रकाशन महत्वपूर्ण है। इन अनुभूतियों का संबंध उनकी रूपासक्ति, अनुरक्ति, भक्ति और जीवन संघर्ष से है। ये भाव परस्पर संयुक्त होकर भी आये हैं। इस प्रकार मीरा के पास व्यापक अनुभव संदर्भता से युक्त कथ्य है। यह कथ्य पद के संक्षिप्त कलेवर में विकसित और निर्णीत होता है। इसीलिए उनकी भाषा पर उनकी गहरी अनुभूतियों, मनोदशाओं आदि की अभिव्यक्ति का बड़ा भार आ जाता है। चूंकि अलंकारों को मीरा ने भाषा की आंतरिक शक्ति के रूप में नहीं लिया है और न ही वे इन पर अनावश्यक रूप से निर्भर हैं इसलिए वे शब्दों की व्यापक अर्थसन्दर्भता, सांकेतिकता और व्यंजकता से काम लेती है। प्रगीतात्मक पदों की आंतरिक अन्विति में लयों की विशेष भूमिका है। मीरा के शब्द इन लयों के अनुरूप तराशे जाते हैं। मीरा ने शब्दों के बहुविध प्रयोग किये हैं। इस दृष्टि से हम उनके पदों में एक ही शब्द के कई रूप देख सकते हैं। ऐसा वे प्राय: लय के निर्वाह के लिए करती हैं। यह लयात्मकता मीरा के पदों की बाह्य गति मात्र नहीं है अपितु आंतरिक अनुशासन है। इसके द्वारा भावों की मार्मिकता और लालित्य में निखार आता है। मीरा के पदों की प्रथम पंक्ति, जो प्राय: टेक के रूप में निरंतर आवृत्ति के लिए है, ही उस पद में उनका मुख्य वक्तव्य या मूल कथन होती है।अन्य पंक्तिया या तो उसके अर्थ का विस्तार करती हैं या उसका ही अनुगमन करती हैं। अंतिम पंक्ति में मीरा पूरे पद में विन्यस्त कथ्य, भाव या घटना को सम पर ले आकर उसे आकांक्षित परिणति देती हैं। मीरा का परम आकांक्षित उनका आत्मनिवेदन ही है जो अधिकतर पदों में अंतिम पंक्ति तक आकर यह आत्मनिवेदन बहुत संकेन्द्रित और प्रत्यक्ष हो जाता है। यहां मीरा अपने नामोल्लेख के साथ प्राय: गिरधर नागर के प्रति निवेदित होती हैं। कुछ पदों में वे कथ्य को बहुत गहरे अनुभव या युग सत्य तक विकसित करती हैं

NMDC-066

मीरा ने समाज के अन्तर्विरोधों को केवल अपनी पीड़ा या संघर्ष के कोण से नहीं देखा है। उनकी दृष्टि वस्तुपरक है और वे युग सत्य को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही देखती हैं।

'आत्मानुभूति' को प्रगीत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। मीरा की समस्त रचनाशीलता का प्राणतत्व यही आत्मानुभूति है। आत्मपरकता, तीव्र भावनात्मकता आदि तत्व इस आत्मानुभूति से अभिन्न हैं। लयात्मकता प्रगीत का नियामक तत्व है तथा इस लय का संबंध भाव और भाषा दोनों से है। शब्दों के आंतरिक स्वर व संगीत का संधान किये बिना इस लयात्मकता का निर्वाह संभव नहीं। हमने देखा है कि मीरा इस लयात्मक अन्विति के प्रति कितनी सावधान हैं। उनका प्रत्येक शब्द उनके चित्र की अनूठी ही नहीं, अपितु चित्र और मूर्तिकला की संकल्पनाओं के सर्जनात्मक संयोजन में रचे गये हैं। अपने पदों में प्राय: अरूप भावस्थितियों को जीवन-जगत के मूर्त कार्य व्यापारों और मुद्राओं से जोड़ती हुई मीरा उनकी गति व प्रकृति को लास्य और नाटकीयता में निर्मित करती हैं। हमें ज्ञात है कि मीरा न केवल अपने पदों को साधु समाज में गाया करती थीं, अपितु ताल-वाद्य के संयोग के साथ घुंघरू बजाती हुई नृत्य कर उठती थीं। उनके पदों में भावों और मनोदशाओं के चित्रों को किसी निपुण नृत्यांगना द्वारा पदक्षेप और मुद्राओं के द्वारा भाव बताने के संदर्भ में देखा जा सकता है। जैसे-

म्हाँरो जणम-जणम रो साथी, थाँने णा बिसर्‌या दिनराती।।टेक।।
था देख्याँ विण कल णा पड़ताँ जाणे म्हारी छाती।
ऊंचा चढ़ चढ़ पंथ निहार्‌याँ कलप कलप अंखियाँ राती।

इस प्रकार इस पद में मीरा की तीव्र भावाकुलता नाटकीय संघातों से पूर्ण है। अवश्य ही मीरा ने इसे अपनी नृत्य मुद्राओं से सजा कर भी व्यक्त किया होगा। वस्तुत: लयात्मकता को मीरा ने एक आंतरिक अनुशासन के रूप में विकसित किया है। यही कारण है कि उनके पदों की बाह्य संरचना, छंद आदि की पूर्व निर्धारित मान्यताओं का अतिक्रमण भी करती है। मीरा के पद संगीत को एक प्रभावी आंतरिक मूल्य के रूप में विकसित करते हैं। संगीत के अनुशासन से मीरा के पद अपने चरम मार्मिक प्रभाव की सृष्टि कर लेते हैं। उनके पदों में संकेतित रागों की भावानुरूपता उल्लेखनीय है। मीरा की रचनाशीलता की मूल प्रकृति कोमल, और लास्यपूर्ण है। मीरा ने संगीत को ताल वाद्य और नाद की सम्पूर्णता में स्वीकार किया है। मीरा ने विविध राग-रागिनियों का उपयोग किया है जिनमें से राग झिंझोरी, राग मालकोस, राग पीलू, राग खम्माच, राग पहाड़ी, राग पूरिया कल्याण, राग दिलावल, राग दरबारी, राग होली, राग बागेश्वरी, राग श्याम कल्याण, राग प्रभाती, राग रोड़ी, राग भैरवी, राग विहाग, राग आसवरी, राग रामकली आदि का उल्लेख जरूरी है। छन्दों की तरह रागों की निर्दोषता के प्रति मीरा बहुत सचेष्ट नहीं हैं, किन्तु काव्य में लय के सहज विधान द्वारा वे इनका निर्वाह कर ले जाती हैं। यह कहा जा सकता है कि मीरा को गीत-संगीत और नृत्य के शास्त्रीय पक्ष का ज्ञान तो था ही साथ ही लोक प्रचलित कला रूपों में भी उनकी गति थी। वे इनके बीच सामंजस्य का संबंध खोजती हैं।

इस प्रकार प्रगीत और संगीत मीरा के काव्य की आंतरिक और सर्जनात्मक आवश्यकता है। इनके द्वारा उनका अर्थविधान अधिक लालित्यपूर्ण और संवेद्य हो उठता है। उनके पदों में अन्तर्निहित भावनात्मक तीव्रता, और वैयक्तिक किन्तु प्रत्यक्ष अनुभवों के संस्पर्श से संयुक्त होकर यह संगीत अनूठे भावलोक की सृष्टि करता है। वस्तुत: संगीत के बिना मीरा का गिरधर नागर से एकात्म अधूरा है। नाद, ताल और स्वर के द्वारा रचे गये वातावरण ने उनके आत्मनिवेदन को अवश्य ही विशिष्ट बनाया होगा।

12.6 सारांश

इस प्रकार मीरा की रचनाशीलता का संपूर्ण अन्तर्बाह्य स्वरूप उनकी सघन आत्मानुभूति से स्पंदित है। इस आत्मानुभूति का विषय - कृष्ण भक्ति है। कृष्ण के प्रति मीरा अपने एकनिष्ठ प्रेम के साथ निवेदित मात्र नहीं अपितु अपने इस अलौकिक आश्रय के सम्मुख वे अपने सुख-दु:ख की गठरी खोल देती हैं। कृष्ण उनकी एकमात्र आशा और प्राप्य हैं। उनके हृदय में कृष्ण प्रेम के अलावा किसी भाव, चरित्र या

HMDC-066

आकांक्षा के लिए स्थान नहीं है। कृष्ण प्रेम उन्हें संपूर्ण और उदात्त बनाता है। वे अपनी समस्त भावनाओं और संबंधों को कृष्ण में घटित होते दीखती हैं। कृष्ण प्रेम की शक्ति से ही मीरा संकीर्ण सामंती समाज के विष का सामना कर पायी हैं। श्रीकृष्ण चरित्र में पूर्ण तन्मयता चाहती हुई मीरा लौकिक जगत के छल-छद्म से क्षुब्ध तो हैं, किन्तु उनका सुख-दुःख गिरधर नागर को पाने और खोने से निर्धारित होता है। ऐसे प्रियतम से संयोग के गिनती के अनुभवों ने यदि मीरा को बेसुध किया है तो विरह के दीर्घ क्षणों ने उन्हें मरण के दुख की सीमा तक व्याकुल किया है। मीरा के भावजगत में मीरा ही मुखर और व्यक्त हैं। वे अनवरत प्रियतम पर रीझने और उन्हें रिझाने के प्रयत्न करती दिखाई देती हैं। गिरधर के मिलने, हंसने, बोलने के प्रसंग बहुत कम हैं। गिरधर की यह निष्ठुरता मीरा को सह्य नहीं। मीरा ने अपने प्रेम और विरह को नाना पारंपरिक और मौलिक उद्भावनाओं में व्यक्त किया है। मीरा की भाषा उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही सहज और संप्रेष्य है। उनके प्रायः दो सौ पदों को प्रामाणिक माना जाता है। ये पद प्रगीतात्मक और विविध राग-रागिनियों में विन्यस्त हैं। संगीत को मीरा ने प्रगीतात्मक शिल्प के आंतरिक अनुशासन के रूप में विकसित किया है।

इस प्रकार मीरा का काव्य उनके सहज अकुंठ व्यक्तित्व के समान जीवन राग से स्पंदित और निराडंबर है। इसमें भावों और अनुभूतियों की गहराई और वैविध्य से रूप लेती हुई वह समृद्धि है जो पूरी तरह से संप्रेष्य और संवेद्य है। सहज जीवनानुभवों में प्रत्येक निर्मल चित्त से एकात्म हो जाने की क्षमता होती है। यह क्षमता मीरा के काव्य में है।

12.7 शब्दावली

अभिसारिका - प्रिय से मिलने के लिए निर्दिष्ट स्थान पर जाने वाली स्त्री

गुलफाम - बहुत सुंदर

गैल - गली

दलित द्राक्षा - निचोड़ा हुआ अंगूर

विगलित - बिखरी हुई

निर्कुण्ठ - कुंठा रहित

12.8 अभ्यास/प्रश्न

1) 'मीरा ने कृष्ण प्रेम को अपनी आत्माभिव्यक्ति के केन्द्रीय विषय के रूप में विकसित किया है।' कथन से अपनी सहमति-असहमति बतायें।

2) मीरा के पदों के आधार पर उनकी अनुभूति की मार्मिकता और वैविध्य का निरूपण कीजिए।

3) मीरा की भाषा के शक्ति स्रोतों का उल्लेख करते हुए उसका वैशिष्ट्य निर्धारित कीजिए।

4) 'प्रगीत का शिल्प मीरा की आत्माभिव्यक्ति के लिए सर्वथा अनुकूल है'- कथन से आप कहां तक सहमत हैं।

5) संगीत मीरा के काव्य का आंतरिक अनुशासक तत्व है, कथन की विवेचना कीजिए।

HMDC-066

इकाई 13 तुलसी के काव्य में युग संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज

13.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

13.2.2 काव्य में समाज का चित्रण

13.3 तुलसी की विचारधारा

13.3.1. तत्व दर्शन

13.3.2 सामाजिक संरचना

13.4 तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना

13.5 सारांश

13.6 अभ्यास/प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप तुलसीकालीन समाज और तुलसी के काव्य में चित्रित समाज और दृष्टिकोण का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- तुलसीकालीन समाज की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- तुलसी के काव्य में चित्रित समाज को जान सकेंगे,
- तुलसी की विचारधारा और दृष्टिकोण का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

तुलसी एक बड़े कवि थे। हिंदी साहित्य में 'रामचरित मानस' जैसा लोकप्रिय और श्रेष्ठ महाकाव्य दूसरा कोई नहीं है। तुलसी ने रामकथा को जिस ऊँचाई पर पहुँचा दिया फिर कोई दूसरा कवि उस ऊँचाई को न छू सका। एक कवि के रूप में तुलसीदास की श्रेष्ठता नि:संदिग्ध है।

एक कवि को समझने के लिए उसकी विचारधारा और दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। यह जानना जरूरी है कि कवि समग्र रूप से समाज और समाज के वंचित और हाशिए पर खड़े लोगों, जैसे स्त्री, दलित आदि के बारे में क्या सोचता है? क्या उसकी सोच अपने समय से आगे बढ़ पाई है? क्या उसके समकालीन रचनाकार कुछ भिन्न ढंग से सोच रहे थे? क्या उस समय के कवि को आज के मानदंड पर कसना उचित है? इन सब प्रश्नों को सामने रखकर ही किसी कवि या रचनाकार का संतुलित और विवेकपूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे कवि को समझने में भी मदद मिलती है। इसी दृष्टि से इस इकाई को आपके सामने प्रस्तुत किया गया है। यह इकाई केवल एक अध्ययन सामग्री ही नहीं है बल्कि आपको सोचने-विचारने के लिए काफी सामग्री प्रदान करती है। इससे आपकी आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक क्षमता भी विकसित हो सकेगी।

13.2 तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज

किसी भी कवि को समझने के लिए उसके युग को जानना जरूरी होता है। इससे यह जानने में सहूलियत होती है कि रचनाकार ने अपने युग के यथार्थ को कितनी ईमानदारी से प्रस्तुत किया है?

HMDC-066

इससे समाज के प्रति कवि के दृष्टिकोण का भी पता चलता है। इसी उद्देश्य से यहाँ तुलसीदास के युग और उनकी कविता में प्रतिबिंबित समाज का विश्लेषण किया जा रहा है।

13.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी महान कृतिकार के सृजनात्मक साहित्य में अंकित और प्रतिबिम्बित तत्कालीन समाज के स्वरूप का साक्षात्कार दोहरे तरीके से ही करना उचित प्रतीत होता है। एक तो यह कि हम उस कृतिकार के युग और परिवेश से परिचय प्राप्त करें और दूसरा यह कि उसके कृतित्व में प्राप्त तत्कालीन समाजिक यथार्थ को ऐतिहासिक संज्ञान के आलोक में परखें।

आप भी यही चाहेंगे कि तुलसीदास (1532-1623) के परिवेश, उनके जमाने और उनकी परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय अवश्य ही मिले। इस सिलसिले में यह याद रखना बहुत जरूरी है कि भारत के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास में जिसे मध्यकाल कहते हैं, उसी के अंतर्गत तुलसी सोलहवीं सदी में पैदा हुए थे और सत्रहवीं सदी के तीसरे दशक में उनकी मृत्यु हुई थी। जाहिर है कि तब मुगलों का शासन था। गोस्वामीजी इन्हीं मुगल शासकों में हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वे शेख मुबारक, अबुल फजल, अर्ब्दुरहीम खानखाना, सिख गुरु रामदास और अर्जुनदास तथा दादू दयाल के भी समकालीन थे। बादशाह अकबर (1556-1605) के समय में ही भारत और यूरोप का संपर्क आंरभ हो गया था। आपमें से जो इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं उन्हें अवश्य ही मालूम होगा कि तब तक यूरोप में पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन के प्रभाव से राजनीति, (ज्ञान-विज्ञान), टेक्नॉलाजी, दर्शन और साहित्य में परिवर्तन की प्रकिया अपनी जड़ जमा चुकी थी। अंग्रेजी साहित्य में विलियम शेक्सपीयर, मिल्टन और फ्रांसिस बेकन छाये हुए थे और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में गैलीलियो, कोपरनिक्स, केपलर एक नये युग का सूत्रपात कर चुके थे।

इधर अकबर के शासनकाल में खासतौर पर उत्तर भारत के एक सुदृढ़ केंद्रीय प्रशासन के अंतर्गत देश के अधिकांश भागों को संयुक्त और सूत्रबद्ध कर दिया गया था और पारस्परिक झगड़ों में उलझी रियासतों को भी प्रत्यक्ष नियंत्रण में ले लिया गया था। अपने शासन को निरापद बनाने के उद्देश्य से अकबर ने हिन्दू सामंतों से सुलह-संधियाँ कीं और हिन्दू प्रजा का विश्वास जीतने के लिए धार्मिक भावनाओं की कद्र करने का ऐलान किया। शेख मुबारक और अबुल फजल की प्रेरणा से 'दीन-ए-इलाही' नामक एक नये धर्म का प्रवर्तन भी किया गया।

सोलहवीं सदी में दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न समुद्री तटों और बंदरगाहों पर जहाजी बेड़े समेत पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारी उतर रहे थे। मुगल शासकों ने पहले उन्हें व्यापार के विस्तार के हित में प्रश्रय देने की नीति अपनायी, पर बाद में बंदरगाहों पर नियंत्रण को लेकर संघर्ष भी शुरू हो गया। हिंदी भाषी क्षेत्रों के जनसाधारण इन घटनाक्रमों से पूरी तरह बेखबर थे। विभिन्न धार्मिक पंथों के प्रवर्तक, प्रचारक और अनुयायी भी इन घटनाओं से बेखबर थे। चाहे वे कृष्ण भक्त हों या राम भक्त, निरगुनियें हों या सगुनिये, शैव हों या शाक्त, तंत्र साधक हों या योगी - इन सबके आगे सर्वोपरि समस्या थी अपने पंथ की सर्वोच्चता की स्थापना।

अकबर दरबार के दस्तावेजों में भी रेनेसां से जन्मे नये यूरोप के ज्ञान-विज्ञान और उससे आदान-प्रदान की नीति का कोई संकेत नहीं मिलता। शासकों और दरबारियों के मन में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारियों के मंसूबों को लेकर कहीं किसी आशंका के भी संकेत नहीं मिलते हैं। थोड़ा-बहुत झगड़ा होता है तो सूरत और खंभात के बंदरगाह पर नियंत्रण को लेकर जिसे व्यापारिक हित का मुद्दा मानकर गंभीरता से नहीं लिया जाता। निष्कर्ष यह कि उधर आधुनिक यूरोप भारत के दरवाजे पर दस्तकें दे रहा था, इधर यूनानी-अरबी-फारसी लेन-देन और अनुवादों के माध्यम से विकसित ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलाजी की परंपरा का भी ह्रास और क्षरण होता गया। स्वयं अबुल फज़ल ने स्वीकार किया है - पारंपरिकता के तेज झोंके चलने लगे तथा बुद्धिमत्ता के चिराग मद्धिम पड़ते गये। क्यों और कैसे जैसे सवालों के लिए दरवाजा बंद हो चुका है। सवाल करना और जिज्ञासु होना निरर्थक समझा जाने लगा है तथा यह कुफ्र माना जाता है। पिता से, गुरु से,

HMDC-066

सगे-संबंधियों से, दोस्तों से और पड़ोसियों से जो कुछ भी मिले, उसे खुदा की मेहरबानी माना गया और उनसे विपरीत राय देने वालों को विधर्मी और अपवित्र होने का आरोप झेलना पड़ा। यद्यपि प्रबुद्धों में से कुछ ने अपना रास्ता अलग बनाने की लगन दिखाई, लेकिन वे भी अपने अमल के सही रास्ते पर प्राय: आधी से अधिक दूरी तय नहीं कर सके।

यूनान, अरब और ईरान के परस्पर लेनदेन से 13वीं सदी के हिन्दुस्तान में अनुवादों और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में नये चिंतन की जो परंपरा शुरू हुई थी - सोलहवीं सदी तक आते-आते खत्म हो गयी। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विद्वान इरफान हबीब ने **मध्यकालीन भारत में तर्क शक्ति और विज्ञान** शीर्षक आलेख में उपर्युक्त स्थापना के पक्ष में पर्याप्त ब्यौरे और प्रमाण दिये हैं।

इसी सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तुलसीदास पैदा हुए थे। इस संकीर्ण बौद्धिक परिवेश में तुलसीदास ने होश संभाला। आँखें खोलकर देखते भी तो क्या देखते? गोस्वामी जी का समकालीन बौद्धिक वर्ग या तो धर्मशास्त्र की शरण में था या फिर सामंती राजतंत्र द्वारा पालित-पोषित। शासक वर्ग की सुचिंतित नीति के तहत जन-शिक्षा के अभाव का हवाला देते हुए बर्नियर ने अपने यात्रा वृत्तान्त में ठीक ही कहा था कि हिन्दुस्तान के जनसाधारण की गहन और सार्वत्रिक अज्ञानता का यह युग था।

13.2.2 काव्य में समाज का चित्रण

भक्तिकाल में किसी रचनाकार के कृतित्व में तत्कालीन यथार्थ का इतना विशुद्ध और दारुण चित्र नहीं मिलता, जितना तुलसी के साहित्य में प्राप्त होता है। कवितावली में तुलसीदास कहते हैं काल बड़ा कराल है, राजा निर्दय है और राज समाज छली-कपटी है - कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाजु बड़ोई छली है। (कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या ८१) जीवन की विभीषिका संपूर्ण यथार्थ को एक दु:स्वप्न के रूप में तब्दील कर चुकी है। दिनोंदिन दरिद्रता दुष्काल, दु:ख, पाप और कुराज्य दूने होते जा रहे हैं। इस भयंकर वास्तविकता से भय खाकर सुख और सुकृत संकुचित हो रहे हैं। इस जमाने की करालता ऐसी है कि बड़े-बड़े पापी डराने-धमकाने की ताकत के बल पर दाँव लगाते हैं और जो भी माँगते हैं, आसानी से पा जाते हैं। पर भले आदमी का बुरा हो जाता है -

> दिन-दिन दूनो देखि दारिदु, दुकालु, दुखु,
> दुरितु, दुराजु सुख-सुकृत सकोच है।
> मागें पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
> कालकी करालता, भलेको होत पोच है।।
>
> (कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 81)

अपने युग के यथार्थ और पीड़ामय संसार के साक्षात् गवाह होने के नाते भक्त कवि तुलसीदास का कहना है इस संसार का संकट मिटेगा तो कैसे मिटेगा? तप तो कठिन है, और तीर्थाटन करके अनेक स्थानों में विचरने से भी कुछ नहीं होगा क्योंकि कलियुग में न कहीं वैराग्य है, न कहीं ज्ञान है - सब कुछ असत्य, सारहीन और फोकट का झूठ है। नट के समान अपने पेट रूपी कुत्सित पिटारे से करोड़ों तरह के इन्द्रजाल और कौतुक का ठाठ खड़ा करना व्यर्थ है। सुख पाने का एक ही साधन है, रामनाम - रसना निसिबासर रामु रटो :

> न मिटै भवसंकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो।
> कलिमें न बिरागु, न गयानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूठ-जटो।।
> नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट डटो।
> तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसिबासर रामु रटो।।
>
> (कवितावली, उत्तरकांड पद संख्या 87)

इस लोक में जन्म ग्रहण करने के बाद इन्द्रिय निग्रह अत्यंत कठिन कार्य है। दान, दया, यज्ञ, कर्म और स्वधर्म - सब धन के अधीन है। तप, तीर्थ और योग साधना वैराग्य से होते हैं किंतु मन तो हमेशा चंचल रहता है। मन की दृढ़ता के बिना यह योग साधना और वैराग्य कैसे संभव है? अत: इस भयंकर समय में राम ही कृपा कर सकते हैं। वही एकमात्र अवलम्ब है -

HMDC-066

दम दुर्गम, दान, दया, मुख, कर्म, सुधर्म अधीन सबै धनको।
तप, तीरथ, साधन जोग, बिरागसों, होइ, नहीं दृढ़ता तनको।।
कलिकाल करालमें 'राम कृपालु' यहै अवलंबु बड़ो मनको।
'तुलसी' सब सजमहीन सबै, एक नाम-अधारु सदा जनको।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 87)

नि:स्वार्थ भाव से भक्ति, सत्संग और स्वधर्म के पालन में तल्लीन - इस वीतरागी संत को इस बात की कितनी व्यथा हुई होगी, मन को कैसा दु:सह आघात लगा होगा कि अब सब कुछ - **स्वधर्म तक धन के अधीन हो गया है।** यथार्थ के इस दंश और नग्न सत्य के साक्षात्कार ने उनकी चेतना को कितना झकझोरा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। धन की लूट-खसोट पर अवलम्बित समाज में तुलसी अपनी हैसियत, अपनी वास्तविक स्थिति की दो टूक और निर्मम समीक्षा करते हैं - मेरा मन तो ऊँचा है और मेरी रुचि भी ऊँची है, पर मेरा भाग्य कपट नीचा है। मैं लोकरीति के लायक कभी न रहा, बल्कि उलटे हमेशा स्वच्छंद और वाचाल बना रहा। इतने साधन थे ही नहीं कि अपने स्वार्थ की पूर्ति करता, भला परमार्थ कैसे कर पाता। इस पेट की भूख (जो कि बड़वाग्नि जैसे कठिन रही है) के कारण मेरी जिंदगी जी का जंजाल हो गई है, चूंकि न तो कोई चाकरी मिली, न खेती की, न कभी व्यापार किया और न कभी धंधे के रूप में भिक्षावृत्ति अपनायी। आजीविका के लिए न तो कोई धंधा मिला और न कभी सीख पाया। हकीकत में हालत तो यहाँ तक पहुँच गई है कि अगर राम सहारा न दें तो अपने पितरों को भेंट चढ़ाने के लिए मेरे सिर पर बाल भी नहीं हैं

ऊंचो मन, ऊंची रुचि, भागु नीचो निपट ही,
लोकरीति लायक न, लंगर लबारु है।
स्वारथु, अगमु, परमारथ की काहा चली,
पेटकीं कठिन जगु जीव को जवारू है।।
चाकरी न आकरी, न खेती, न बनिज-भीख,
जानत न कूर कुछ किसब कबारू है।
तुलसीकी बाजी राखी रामहीकें नाम, न तु
भेंट पितरन को न मुड़हू में बारु है।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 67)

तुलसी अपने अभाव, अपनी निपट दरिद्रता और बेरोजगारी की दारुण अवस्था का जो चित्र पेश करते हैं, वह जन-साधारण की अकिंचनता और बदहाली के अंकन के क्रम में खींचे गए चित्रों के अलबम का ही एक हिस्सा है। ऐसा चित्रांकन आज भी जन-सामान्य की वैसी ही अवस्था देखकर करुणा उत्पन्न करता है - ऐसी करुणा जो सामंती शासक वर्ग के प्रति गुस्से और नफरत से भरी है। दरिद्रता के चित्रण की इसी कड़ी में अन्नपूर्णा के माहात्म्य के बहाने भूख से बिललाते रंक और अकिंचन लोगों का वर्णन आता है -

लालची ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,
बदन मलीन, मन मिटै ना बिसूरना।
ताकत सराध, कै बिबाह, कै उठाह कछू,
डोलै लोल बूझत सबद ढोल-तूरना।।
प्यासेहूँ न पावै बारि, भूखें न चनक चारि,
चाहत अहारन पहार, दारि घूर ना।
साकको अगार, दुखभार भरो तोलौं जन
जौलौं देबी द्रवै न भवानी अन्नपूरना।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 148)

NMDC-066

दरिद्रता रूपी रावण ने दुनिया को दबोच रखा है – इस पाप रूपी ज्वाला को देखकर तुलसीदास कातर होकर हाहाकार करते हैं – प्रार्थना करते हैं।

अनेक इतिहासकारों ने तत्कालीन सामाजिक अवस्था का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि उत्तर मध्यकाल में बार-बार अकाल पड़ता था और लाखों लोग भुखमरी की भेंट चढ़ जाते थे। ऊपर उल्लिखित पदों से भी इस बात की पुष्टि होती है। कलिकाल वर्णन से संबंधित सभी पदों में उस युग के यथार्थ का ही साक्षात्कार है – यद्यपि किंचित् पौराणिक और धार्मिक पुट भी साथ-साथ द्रष्टव्य हैं।

अकाल और सूखा पड़ने के समय निर्धन जन-साधारण की तबाही-बर्बादी का विश्वसनीय चित्र देने में तुलसी का अद्वैतवाद बाधक नहीं बनता है। पर क्या सामान्य दिनों में जन-साधारण की अवस्था के विश्वसनीय वर्णन उनके काव्य में उपलब्ध हैं? प्रकारान्तर से लोगों के दैन्य और अभाव के प्रति एक संवेदनशील रचनाकार के रूप में उनकी सजगता सम्पूर्ण कृतित्व में छायी हुई है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अपने उपास्य को सामर्थ्यवान, सर्वशक्तिमान, पराक्रमी और अलौकिक गुणों से संपन्न बताने मात्र से वे संतुष्ट नहीं होते। उन्हें ऐसा प्रतीत है कि इतना बताने मात्र से राम के प्रति अनुराग उत्पन्न होने वाला नहीं है। अतः बार-बार कृपानिधान, करुणा के आगार, दीनदयालु, गरीब नवाज और विपन्न-वंचित जनों के शरणदाता के रूप में राम की महिमा का बखान किया गया है। "रामचरितमानस" में राम वनगमन की कथा के साथ-साथ ग्रामीण-जनों की झोपड़ियों और अभावग्रस्त स्थितियों का विवरण उस जमाने के जन-साधारण का वास्तविक दिग्दर्शम कराने में समर्थ है। वनवासी जातियों की जीवन-स्थिति के वर्णन प्रसंग भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। गरीब जन-साधारण राजपरिवार की अंतर्कलह के दुःखदायी परिणामों पर जैसी टिप्पणियाँ करते हैं और आवभगत में अपनी सहज निश्छलता का जैसा परिचय देते हैं – उससे भी पता चलता है कि अपने समकालीन दलित-वंचित जनसमुदाय को गोस्वामी जी किस दृष्टि से देखते थे। अपनी वास्तविकता अर्थात् अपने दैन्य को पूर्वजन्म का फल माननने वाली प्रजा सामंती मूल्यों की अनुगामिनी बनी हुई है। विचारधारा के स्तर पर तुलसी इसे गौरवान्वित करते हैं। अयोध्या कांड में वर्णित केवट प्रसंग इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण और सार्थक है।

राम, लक्ष्मण और सीता गंगा तट पर हैं। नदी पार करने के लिए केवट से आग्रह किया जा रहा है। रामचरितमानस और कवितावली में राम और केवट का संवाद थोड़ा भिन्न-भिन्न है। रामचरितमानस में केवट कहता है कि मेरी तरणी मुनि की घरनी हो जाएगी तो मैं रोजी रोटी कैसे कमाऊंगा? मेरे पास और तो कोई धंधा नहीं है। इस बहस के बाद चरण पखारने की अनुमति मिलते ही केवट राजकुल के परिवार को नांव से पार उतार देता है। सीता नावें की उतराई के लिए अपनी रत्नजड़ित अंगूठी देना चाहती हैं। केवट का उत्तर है – मूझे अंगूठी नहीं लेनी। मुझे तो सब कुछ मिल गया। मेरे दोष, दुःख और दरिद्रता की दावाग्नि बुझ गयी – **नाथ आज में काह न पावा। मिटे दोष दुख दरिद दावा।** कवितावली में यही संवाद तत्कालीन यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी सामने लाता है। केवट तर्क करता है कि मेरी नौका सड़ी-गली है, दूसरी बनवा नहीं सकता, छोटे-छोटे बच्चों का लालन-पालन कैसे करूंगा। उसके घर में पत्तल पर मछली के सिवा कुछ भी नहीं होता। बच्चे छोटे-छोटे अर्थात् कमाने लायक नहीं हैं। मैं दीन-हीन और दरिद्र तो हूँ ही। वेद पाठी ब्राह्मण को दी जाने वाली शिक्षा-सुविधा से मेरे बच्चे वंचित हैं और मैं निषाद जैसी शूद्र जाति का होने के कारण आपसे झगड़ा मोल नहीं ले सकता -

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवटकी जाति, कछु वेद न पढ़ाईहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू
हौं दीन बित्तहीन, कैसें दूसरी गढ़ाइहौं।

(कवितावली, अयोध्याकांड, पद संख्या 8)

प्रभु से बात नहीं बढ़ाऊंगा – **प्रभु सों निषादु हवै के बादु ना बढ़ाइहौं।**

HMDC-066

कवितावली में सामंती समाज के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। समाज में व्याप्त असमानता, दरिद्रता, गरीबी आदि से वे दुखी है और इसीलिए वे बार-बार अपने राम से इन दुखों को दूर करने की प्रार्थना करते हैं।

13.3 तुलसी की विचारधारा

कविता में इन्द्रिय बोध, भाव और विचार तीनों परस्पर गुंथे होते हैं। भक्तिकाल के कवि इस नियम के अपवाद नहीं हैं। तुलसी काव्य के आस्वादन और विवेचन के क्रम में गोस्वामी जी की विचारधारा, उनकी दार्शनिक दृष्टि और समाज-संबंधी उनकी मान्यताओं को लेकर आपको काफी माथापच्ची करनी पड़ती है। इस संदर्भ में तुलसी काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों के बीच विवाद और मतभेद से आपकी परेशानी और भी बढ़ जाती है। आपको साफ-साफ पता नहीं लगता कि वे अद्वैतवादी हैं या विशिष्टाद्वैतवादी, इस सृष्टि को वे सत्य मानते हैं या मिथ्या, वे भौतिकवादी है या भाववादी, गोचर सांसारिक सत्ता को वे स्वीकार करते हैं या अस्वीकार, ब्रह्म और जीव के बीच वे द्वैत की स्थिति मानते हैं या अद्वैत, मायावाद का अनुमोदन करते हैं या खंडन? ब्रह्म चिंतन और गोचर-अगोचर सत्ता पर तुलसी की वैचारिक मान्यताओं को लेकर चल रही बहसों में वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों के भाष्यकारों के उद्धरणों और उल्लेखों से जूझते हुए आपको काफी दिमागी कसरत करनी पड़ती है - अंत में हाथ कुछ भी नहीं आता। इसी तरह सामाजिक संरचना पर उनके विचारों को लेकर भी आलोचकों के बीच अंतहीन बहस रही है। नतीजा यह कि इस मुद्दे पर भी आप इस उलझन से निकल नहीं पाते कि तुलसी जाति प्रथा, स्त्री-समाज और राजतंत्र के बारे में अपनी सोच में रुढ़िवादी हैं या प्रगतिशील?

ऐसी स्थिति में तुलसी की विचारधारा की स्पष्ट समझ के लिए उनकी काव्यकृतियों में आये वैचारिक, दार्शनिक और सामाजिक प्रसंगों को ध्यान से पढ़ना आवश्यक है।

13.3.1 तत्व दर्शन

रामचरितमानस के बालकांड के आरंभ में ही गोस्वामी जी की उक्ति है - सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्म के ही स्वरुप हैं (अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरुपा)। पर इन दोनों से बड़ा है रामनाम (मोरें मत बड़ नाम, दुहू तें)। ब्रह्म चिंतन के अंतर्गत अपनी इसी मान्यता को एक आलंकारिक दृश्यचित्र द्वारा स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं - ब्रह्म अग्नि के समान है, एक एक अग्नि जो लकड़ी में छिपी है (एक दारुगत देखिअ एकू) अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त, निर्गुण और सगुण, अगोचर और गोचर - दोनों एक ही ब्रह्म है और वह अविनाशी है, सत चित् और आनंद की पुंजीभूत राशि है। इससे आपको स्पष्ट हो गया होगा कि निर्गुण संतों से भिन्न उनकी वैचारिक कल्पना है। एक निरपेक्ष परम सत्ता जो लीला करने के लिए सगुण रुप, लौकिक रुप, अवतारी रुप धारण करती है - उस परमसत्ता के पद पर तुलसी राम को प्रतिष्ठित करते हैं।

तुलसी के वैचारिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के अंतर्गत, जीव और शेष सृष्टि पर उनके चिंतन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रामचरितमानस में काकभुशुण्डि-गरुड़ संवाद के अंतर्गत भगवान राम स्वयं कहते हैं - **मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।।** (रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 86)

परम पद पर अधिष्ठित परमेश्वर राम स्वयं इस रहस्य को खोल देते हैं कि यह सारा संसार ही उनकी माया से उत्पन्न है - और इसी माया से उत्पन्न संसार में विविध प्रकार के चराचर जीव हैं। इससे आपको स्पष्ट हो गया होगा कि तुलसी की दृष्टि में ब्रह्म और जीव अलग-अलग हैं, पर जीव की पृथक् सत्ता भी ब्रह्म की माया के वशीभूत है। दार्शनिक विवेचन के धरातल पर आप सहज ही इसे समझ सकते हैं कि तुलसी की मान्यता के अनुसार यह गोचर लौकिक जगत अपने वस्तुगत नियम से स्वयं उत्पन्न और विकसित न होकर, अगोचर परब्रह्म परमेश्वर की माया से उत्पन्न है। इसका तात्पर्य यह कि तुलसी विचार और दर्शन में भाववादी हैं, न कि भौतिकवादी। भारतीय दर्शन की भाववादी धाराओं में वे मूलतः अद्वैतवादी हैं, पर जीव की ब्रह्म-आश्रित पृथक् सत्ता पर बल देने के कारण विशिष्टाद्वैतवाद के एक पहलू का अनुमोदन करते हैं। ईश्वर और जीव में फर्क बतलाने के लिए

HMDC-066

गोस्वामी जी एक और भी प्रसंग लाते हैं और वह है ज्ञान। भक्तिकालीन साहित्य में इस ''ज्ञान'' शब्द की बारम्बार आवृत्ति हुई है। प्रायः सभी भक्त रचनाकारों की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है ब्रह्म का ज्ञान। यह ज्ञान माया की वजह से जीवों को नहीं होता, अज्ञान का परदा पड़ा रहता है, जीव के चित्त पर अज्ञान और अविद्या का अंधेरा छाया रहता है। उल्लिखित काकभुशण्डि-गरूड़ संवाद में रामकथा के साथ-साथ ज्ञान चर्चा भी चलती रहती है, शिव-पार्वती संवाद और याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद का भी यही हाल है। काकभुशण्डि जी पक्षिराज गरूड़ को बताते हैं -

ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।।
जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।
(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 78)

सिर्फ मायापति प्रभु राम ही अखंड ज्ञान स्वरूप हैं, शेष जड़-चेतन सभी पदार्थ और जीव माया के वशीभूत हैं। अगर जीवों को भी अखंड ज्ञान होता तो फिर ईश्वर और जीव में फर्क क्या रहता। अभिमानी जीव माया के वशीभूत है, पर सत्व, रज और तम - इन तीनों गुणों की खान माया ईश्वर से नियंत्रित होती है, ईश्वर के वशीभूत है। जीव परतंत्र है, पर भगवान स्वतंत्र हैं। जीव अनेक हैं, पर भगवान एक है। यद्यपि मायाकृत यह भेद असत्य है तथापि वह भगवान की भक्ति के बिना करोड़ों उपाय करने के बाद भी नष्ट नहीं होता।

उपर्युक्त पद में आपने देखा कि परम विचार (एब्सोल्यूट आइडिया) और निरपेक्ष परम सत्ता की परम ज्ञान से अभिन्नता दर्शायी गई है। पश्चिमी दर्शन में इसे प्रोटोटाइप भी कहा जाता है। एक ही परम सत्ता की लौकिक अभिव्यक्ति के रूप में राजतंत्र के सम्राट और अनेकानेक जीवात्माओं को प्रजागण के रूप में देखने से तात्विक चिंतन और सामाजिक चिंतन एकाकार हो जाते हैं। जीवात्मा परतंत्र है और बिना हरिकृपा के उसे ज्ञान नहीं होता, उसके दुःख का निवारण भी नहीं होता। इसीलिए भक्ति की जरूरत है, हरिभक्ति के बिना सांसारिकता से जीवों को त्राण नहीं मिल सकता।

इसी क्रम में तुलसी जिस निष्कर्ष की ओर बढ़ते हैं, उस पर सहज ही आपका ध्यान गया होगा। रामचरितमानस में शिव-पार्वती संवाद के अंतर्गत पार्वती अपनी शंका रखती हैं। हे कामदेव को भस्म करने वाले शिवजी ! आप जिस राम का जाप करते हैं क्या ये राम अयोध्या के राजा के पुत्र हैं या निर्गुण-निराकार कोई और राम हैं? इस शंका का संदर्भ यह भी है कि निर्गुण संत कबीर जिस राम की भक्ति करते हैं, उसके बारे में वे कह चुके हैं कि राम दशरथ-पुत्र नहीं बल्कि निर्गुण अगोचर परब्रह्म हैं। तुलसी कबीर आदि निर्गुण धारा के संतों का खंडन कर रहे थे और अपनी विचारधारा को शंका-समाधान द्वारा प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

पार्वती की उल्लिखित शंका के अंतर्गत यह प्रश्न भी आता है कि यदि वे राजपुत्र हैं तो फिर ब्रह्म कैसे? और यदि ब्रह्म हैं तो सीता के विरह में उनकी मति बावली कैसे हो गई? पार्वती कहती हैं उनके ऐसे चरित्र को देखकर और महिमा सुनकर उनकी बुद्धि चकरा गई है -

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।
(रामचरितमानस, बालकांड)

अपनी शंका के अंतर्गत अनेकानेक प्रश्न और रामचरित के विभिन्न घटना प्रसंगों को लाकर फिर मुख्य रूप में यही अनुरोध करती हैं कि रामचंद्र के अवतार की कथा सुनाइए - **पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।** पार्वती के उक्त प्रश्नों के उत्तर के अंतर्गत तुलसी कबीर आदि संतों को खरीखोटी ही नहीं सुनाते बल्कि उन्हें मोहरूपी पिशाच से ग्रस्त (ग्रसे जे मोह पिसाच), पाखंडी, हरिपद विमुख और अधम

HMDC-066

नर (कहहिं सुनहिं अस अधम नर) बताकर पूरी तरह लांछित करते हैं। तुलसी की दृष्टि में दशरथ पुत्र राम को परब्रह्म परमेश्वर न मानने वाले व्यक्ति बनता तो है संत, पर वह अज्ञानी, मूर्ख, अंधा और भाग्यहीन है, उसके मनरूपी दर्पण पर विषयासक्ति रूपी काई जमी हुई है, वह व्यभिचारी, छली और कुटिल है तथा उसने कभी स्वप्न में भी सच्चे संतों के साथ समागम नहीं किया। ऐसे लोग निर्गुण-सगुण के बारे में मनगढ़त बातें बका करते हैं। इन्हें सन्निपात-उन्माद आदि वायुरोग हो गया है, ये मदिरा के नशे में चूर होकर बकवास करते हैं। (रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 114-115)

खैर इस प्रसंग को छोड़िए। उस युग के गर्मागम बौद्धिक विवादों के एक नमूने के रूप में इस प्रसंग को याद रखिए। पार्वती की शंका का समाधान करते हुए शिव कहते हैं -

सगुनहि अगुनहि नहि कुछ भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरुप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।।
(रामचरितमानस, पद संख्या 116)

लकड़ी में अव्यक्त अग्नि और जली लकड़ी में व्यक्त अग्नि के दृष्टान्त के बाद यहाँ दूसरा दृष्टान्त रखा गया है - अर्थात् जल और उपल (ओले) में भेद नहीं है। सगुण-अगुण दोनों रूप में उसी की सत्ता है। वह अलौकिक है, अमूर्त है, अदृश्य है -

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।
(रामचरितमानस, पद संख्या 118)

इस अलौकिक गुणों से युक्त परमेश्वर ने दशरथ-पुत्र के रूप में रघुकुल में भक्तों के हित के लिए जन्म ग्रहण किया और अयोध्या में निवास किया। जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म-अभिमानी असुरों की संख्या में वृद्धि होती है - उनके द्वारा भयंकर अन्याय होता है, ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथ्वी को कष्ट होता है, तब तब कृपानिधान प्रभु भाँति-भाँति के शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरते है असुरों को मारकर देवताओं को स्थापित करते है, वेदों की रक्षा करते है और जगत में अपना यश प्रकाशित करते हैं। श्री रामचंद्र के अवतार का यही रहस्य है।

यह सब पढ़कर आपको क्या यह प्रतीत नहीं होता कि वैदिक-पौराणिक संस्कृति के कुछ सूत्र वाक्य दोहराकर गोस्वामी जी अपने युग को अतीत के सांस्कृतिक अवशेष के चौखटे में फिट करना चाहते हैं? खैर यहाँ तो ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी की रक्षा के उद्देश्य से अवतार की बात की गई है। पर कवितावली में इस अवतारवाद के साथ दो नई बातें जोड़ी गई हैं - भक्तों के हित के लिए पवित्र नरलीला; तथा नट की नृत्यलीला के रूप में बहुरूपिया के करतब :

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरुप।।
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।।
(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 72)

परमेश्वर राम माया की शक्ति से यह नरलीला करते हैं। इसी माया की शक्ति से वे संपूर्ण सृष्टि की रचना, पालन और संहार करते हैं। बीच-बीच में उलझन पैदा करने वाली एक शंका सबको होती है- अत: आपके मन में भी यह प्रश्न उठता होगा कि ये त्रिदेव कौन हैं? तुलसी के अनुसार - ब्रह्मा, विष्णु, महेश - तीनों अपना देवत्व प्रभु राम से ही प्राप्त करते हैं। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। सीता मूल प्रकृति, आद्याशक्ति, योगमाया और लक्ष्मी की अवतार हैं। यह सारा संसार सीताराम से व्याप्त है (सीय राममय सब जग जानि)।

यहाँ यह याद करने की जरूरत है कि कुछेक समीक्षक इस मान्यता को दोहराते हैं कि तुलसी मायावाद के समर्थक नहीं हैं। आप गोस्वामी जी के संपूर्ण कृतित्व को यदि विशद पाठ के रूप में देखें तो मायावाद के खंडन से संबंधित एक भी उक्ति आपको नहीं मिलेगी। माया का लगभग ऐसा ही आख्यान कबीर में भी मिलता है (माया महाठगिनी मैं जानी)। गोस्वामी जी इस प्रसंग में संतों की परंपरा का ही अनुसरण करते हैं। सत्व, रज और तम – तीनों गुणों से युक्त यह माया, त्रिगुणात्मिका शक्ति है (तिरगुन फाँस लिये कर डोलत, बोलत मधुरी बानी)। गोस्वामी जी विस्तार से माया के बारे में बताते हुए कहते हैं कि संपूर्ण विश्व, देव, दनुज, मनुष्य, राजा-प्रजा, किसान-मजदूर सभी इसके वश में हैं। माया स्वत: तो जड़ होती है पर देखो प्रभु की लीला कि उन्हीं की प्रेरणा से वह क्रियाशील होती है। माया राम की चेरी है। माया का ही एक रूप है अविद्या। अविद्या द्वारा ही वह जीव को भवचक्र-भवकूप में डाले रखती है और दु:ख देती रहती है। गोस्वामीजी ने जीव और शरीर में भी फर्क किया है। तुलसी के अनुसार पंचभूतों से निर्मित शरीर से जीव भिन्न होता है, उसकी अलग सत्ता है, इसीलिए जीव नित्य है, वह मरता नहीं, आवागमन के चक्र में फँसा रहता है और कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगता रहता है।

तत्व मीमांसा के इन प्रश्नों पर तुलसी की एक तर्क-व्यवस्था है जिसके निष्कर्ष के रूप में वे भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान प्राप्त करते ही जीव को संसार-चक्र और आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। गोस्वामी जी का मत है कि रामभक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है। पर राम कृपा के बिना भक्त का पद आसानी से ही नहीं मिलता। निष्कर्ष यह कि राम का नाम स्मरण, नाम जाप, राम कथा श्रवण और राम को ही सर्व शक्तिमान परमेश्वर मानकर उनसे कृपा का अनुग्रह आवश्यक है। गोस्वामी जी बारम्बार बताते हैं कि राम भक्ति से भक्त के अंत:करण में अज्ञान का अंधकार छँट जाता है। अगर अंदर-बाहर दोनों जगह उजाला ही उजाला चाहते हो तो रामनाम रूपी मणिदीपक को मुख रूपी द्वार की जीभ रूपी देहली पर रखो –

> **राम नाम मनिदीप धरू जीह देहरीं द्वार।**
> **तुलसी भीतर बाहरहुँ जौं चाहसि उजिआर।।**
>
> **(रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 21)**

आप पूछ सकते हैं कि नाना पुराण निगमागम के ज्ञान से समृद्ध तथा अपने युग की समस्या के प्रति जागरूक एक विचारक के नाते तुलसी द्वारा प्रस्तुत समाधान वास्तविक है या काल्पनिक? यथार्थ है या भ्रांति? प्रतिगामी है या अग्रगामी? प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी?

विचारधारा और ऐतिहासिक मूल्य-दृष्टि – दोनों क्षेत्रों में इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर सरलीकरण की मांग करते हैं – हाँ और न में जवाब माँगना खुद-ब-खुद एक प्रकार की आत्मग्रस्तता या अवैज्ञानिकता है। मुख्य बात है यह समझना कि तुलसी की विचारधारा क्या थी और उस विचार व्यवस्था की निर्मिति में कौन-कौन से उपादान सक्रिय थे। शत-प्रतिशत वे न तो अद्वैतवादी थे और न विशिष्टाद्वैतवादी। तुलसी के युग तक चली आ रही विभिन्न विचार-परंपराओं और साधना-पद्धतियों के जो सांस्कृतिक अवशेष थे, उनसे निपटे बिना, उनकी व्यर्थता और असंगतियाँ बताये बगैर एक विचारक के रूप में अपनी मान्यताओं को वे प्रतिष्ठित कर ही नहीं सकते थे। आप लोगों ने हठयोगियों, सिद्धों, नाथों, संतों और शैवों के प्रति उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ पढ़ी हैं। दूसरा महत्वपूर्ण यह तथ्य भी आपकी आंखों से ओझल नहीं होना चाहिए कि गोस्वामी जी अपने युग के हिंदू समाज को संबोधित कर रहे हैं। उनकी रचनाएँ कहीं से भी मुस्लिम समाज को संबोधित नहीं हैं। विजेता शासक समुदाय की संस्कृति से अपनी उच्चता और गरिमा सिद्ध करने के लिए अक्सर अतीत को धो-पोंछ कर, परिशोधित और परिष्कृत कर पेश किया जाता है। गोस्वामी जी भक्तिकालीन कवियों में इस दृष्टि से सबसे पृथक् दिखाई देते हैं – वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि पर अपनी निर्भरता का बार-बार वे उल्लेख भी करते हैं। वे वैष्णव संप्रदाय और शैव संप्रदाय के बीच एकता स्थापित करना चाहते थे। शूद्रों और अंत्यजों के सामाजिक विद्रोहों को प्रकट करने वाली साधना-पद्धतियों को वे पौराणिक-वैदिक संस्कृति की पुन: प्रतिष्ठा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानते थे। अत: यह नहीं समझना चाहिए कि वे समन्वयवादी विचारक थे। आपने तुलसी साहित्य से संबंधित आलोचना पुस्तकों में उनके तथाकथित समन्वयवाद का

HMDC-066

बार-बार उल्लेख अवश्य ही पढ़ा होगा। अद्वैतवादी चौखटे में विशिष्टाद्वैतवाद के कुछ पहलुओं, त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और शैव साधना के कुछ तत्वों को एकसूत्र में पिरोने से उस युग में कोई समन्वयवादी नहीं हो सकता था। समन्वय तो तभी होता जब बौद्ध, जैन, लोकायत, आजीवक, सिद्ध, नाथ और सूफी मतों का लोकग्राह्य रूप में समाहार प्रस्तुत किया जाता। दर्शन की अवैदिक परंपराओं तथा सिद्धों-नाथों-संतों के प्रति गोस्वामी जी के दृष्टिकोण से आप परिचित हैं ही।

आचार्य शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बलदेव प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. उदयभानु सिंह, रामविलास शर्मा आदि समालोचक और पं. राम किंकर उपाध्याय जैसे कथावाचक तक सभी उन्हें समन्वयवादी कहते आए हैं। विद्वानों की पंक्ति में सिर्फ डॉ. माता प्रसाद गुप्त भिन्न मत रखते आए हैं। इस विवाद में निर्भ्रांत रुप में हस्तक्षेप करते हुए उन्होंने कहा है -

कुछ लोग तुलसीदास को अद्वैतवादी और कुछ उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं। कुछ कहते हैं कि उन्होंने दोनों का समन्वय किया था और कुछ कहते हैं कि दोनों के परस्पर विरोधी सिद्धांत भी उनकी रचनाओं में पाए जाते हैं। कुछ यह भी कहते हैं कि उनके आध्यात्मिक विचार उनके अपने हैं और इसलिए उनके सिद्धांतों को तुलसीमत या तुलसी दर्शन नाम देना चाहिए। किंतु वास्तविकता में इनमें से एक भी विचार ग्राह्य नहीं है और सभी भ्रमात्मक हैं। इस भ्रम का कारण यह है कि तुलसीदास के पूर्व रामभक्ति धारा का दर्शन क्या था, इसे जानने और समझने की यथेष्ट चेष्टा नहीं हुई है।

वास्तविकता यह है कि तुलसीदास ने जिस प्रकार अपनी राम कथा का निर्माण पूर्ववर्ती राम कथा के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो ''अध्यात्म रामायण'' में मिलती है, उसी प्रकार उन्होंने अपने राम भक्ति दर्शन का निर्माण भी राम भक्ति दर्शन के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो ''अध्यात्म रामायण'' में मिलता है।

तुलसी के तत्व दर्शन में जनसाधारण के लौकिक-सांसारिक जीवन के संबंधों, भावों, वृत्तियों और प्रेरणाओं को मायाकृत बताकर उनका निषेध किया गया है। बाह्य जगत और उसके संबंध परम-सत्ता और जीव की अपनी वास्तविक स्थिति के परिज्ञान में मायाकृत बाधा है। इसीलिए आपने देखा होगा कि गोस्वामी जी इनके फंदे, भवजंजाल, काम, कोध, मोह, लोभ, स्त्री-पुरुष संबंध, पिता-पुत्र संबंध तथा ऐंद्रिक संवेदनाओं का परित्याग आवश्यक मानते हैं। जैसे यज्ञ में तर्पण, हवन और बलिदान होता है उसी तरह भावनाओं के परित्याग का यज्ञ आवश्यक है जिसमें ममता की बलि करनी है, तभी इन्द्रिय निग्रह होगा और मन वश में आएगा। संसार में आसक्ति भवनिशा है, अब इंद्रियों के वश में नहीं रहना है, जितेंद्रिय बनना है।

''विनय पत्रिका'' में इंद्रिय बोधों के निषेध का बारम्बार उपदेश दिया गया है। इसके एक पद में यह कहा गया है कि जो भी आदमी इनका कहना मानता है वह भवकूप में गिरता है । इसी पद में आगें कहा गया है कि त्वचा, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद और वीर्य - शरीर की रचना करने वाले, ये सातों धातु पाप के भंडार हैं। ''विनय पत्रिका'' के एक अन्य पद में यह कहा गया है कि आत्म-बोध और पर-बोध इस लौकिक संसार रूपी वृक्ष का मूल है, भय इसके कांटे हैं और शोक इसके फल हैं। इस भवतरु - इस संसार रूपी वृक्ष को कुल्हाड़ी से काट देने में ही भलाई है। लौकिक-पारिवारिक जीवन जीते हुए अपनी आजीविका के संघर्ष, बाल-बच्चों के भरण-पोषण आदि के कम में काम, लोभ, कोध, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, हर्ष विषाद आदि की भावनाएँ मनुष्य की चित्तवृत्तियों को आंदोलित किए रहती हैं। तुलसीदास कहते हैं कि मोह सकल व्याधियों का मूल है, काम वातरोग है, कोध पित्त है, विषयों का मनोरथ पेचिश रोग है, ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद कंठमाला रोग है। ऐसी काव्योक्तियों से तुलसीदास का काव्य-कृतित्व भरा पड़ा है। इसे ही गोस्वामी जी परिभाषिक करते हैं- ''सकल धरम विपरीत करत।'' नेत्रों से युवतियों को देखना, कानों से दूसरों की आलोचना सुनना, अपने मुँह से अन्यों के गुण-दोष बताना, हृदय में अभिमान, मोह आदि को स्थान देना और अपने सुंदर मानव शरीर से सांसारिक तृप्ति ढूँढना - ये सब ''सकल धरम विपरीत'' हैं।

HMDC-066

मन रूपी भवन में जो स्थायी और संचारी भाव हैं (मोह, लोभ, क्रोध आदि), वे चोर की तरह घुस आये हैं। इन सहज मानवीय वृत्तियों को अद्वैतवादी शंकराचार्य भी चोर कहते हैं (देहें तिष्ठन्ति तस्करा:)। कबीर भी इन वृत्तियों को और सांसारिक इच्छाओं को चोर ही बताते हैं (तोरी गठरी में लागा चोर)। वैदिक दर्शन के भाष्यकारों से लेकर भक्तिकाल के रचनाकारों तक में यह प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। यदि आप तुलसी-काव्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करें तो ऐसे हजारों उदाहरण मिल जाएंगे। गोस्वामी जी लौकिक इंद्रिय बोध, मनोविकार और संसार धर्म के परित्याग के लिए आध्यात्मिक और नैतिक - दोनों प्रकार के तर्कों का उपयोग करते हैं। ये कामनाएं और वासनाएं मल हैं, पाप हैं, कलष हैं। ऐसी स्थिति में आपके मन में भी यह प्रश्न उठता होगा कि अगर साहित्य का सहृदय पाठक अथवा श्रोता अपनी इंद्रियों का निग्रह कर ले, भावों का परित्याग कर दे तो फिर राम के सत्य, शील और सौंदर्य का आस्वादन कैसे करेगा? आलम्बन, उद्दीपन स्थायी भाव, संचारी भाव आदि से युक्त रसात्मक काव्य का आनंद कैसे लेगा? राम कथा के विभिन्न अवतारी चरित्रों की नरलीला के अंतर्गत उनके मानवीय क्रियाकलापों, उनके बाल रूप, उनके प्रेम, उनके पराक्रम, उनके बंधुत्व, उनकी प्रजावत्सलता - अर्थात् वनगमन से लेकर रावण के संहार तक - रामलीला के दृश्यों को देखकर संवेदनात्मक प्रतिक्रिया कैसे होगी? बिना इंद्रियों के? क्या यह विचित्र बात नहीं लगती? रघुकुल गाथा के अंतर्गत लौकिक-अलौकिक व्यापारों को देखकर सुख-दुःख, हर्ष-पुलग, क्रोध, करुणा, ममता आदि ठीक है, पर ये ही वृत्तियाँ जनसाधारण के लौकिक जीवन के लिए त्याज्य और गर्हित हैं? तुलसी के विचार जगत और उनके भावजगत का यही अंतर्विरोध है।

13.3.2 सामाजिक संरचना

जातिप्रथा अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था पर लगातार हो रहे प्रहार; शुद्रों, अंत्यजों और दलित जातियों के भीषण उत्पीड़न के विरुद्ध और धर्म-परिवर्तन, नाथों, सिद्धों और संतों द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था के विरूद्ध जन-जागृति से भरी बानियों और पदों का व्यापक प्रभाव और अंतत: जात-पाँत, छुआछूत, ऊंच-नीच के भेदभाव से भरी आश्रम व्यवस्था के अंदर पैदा हो रही टूट-फूट से भक्त कवि तुलसीदास क्षुब्ध और संतप्त थे। आपने ध्यान दिया होगा कि इतिहास की इस बहुआयामी प्रक्रिया को ठीक से समझने के बजाय वे दुःखी और खिन्न थे। इसके लिए वे कलियुग को दोषी तो मानते ही थे लेकिन ज्यादा दोषी वे सिद्धों, नाथों और संतों को समझते थे। अपने वचन और वेशभूषा मात्र से वैरागी बने लोगों ने जगत को ठग लिया है (वचन-बिराग, वेष जगतु हरो सो है)। कवितावली के इसी पद में बताया गया है कि गोरख ने जोग जगाकर, भक्ति को खदेड़ कर समाज से बाहर कर दिया (गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग)। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस पद के प्रारंभ में ही वर्ण, धर्म, आश्रम, आदि के विनाश की तथाकथित ट्रेजेडी पर तुलसी के गहरे शोक संताप की छाया फैली हुई है। वर्णाश्रम के विनाश पर संताप और वर्णाश्रम व्यवस्था के सोपान-क्रम में निचले दर्जे पर अवस्थित जातियों के बीच से आये कबीर, रैदास, दादू आदि संतों के प्रति कटूक्ति और शापवाणी - ये दोनों बातें तुलसी की काव्य-कृतियों में अनेक स्थलों पर एकत्र ही मिलती हैं। रामचरितमानस के उत्तरकांड में पंद्रहवी सदी से चले आ रहे विवाद का उत्तर गोस्वामी जी सोलहवीं सदी के अंतिम दशक में देते हैं -

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि।।
परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने।।
तेइ अभेदवादी ज्ञानी पर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर।।
आपु गए अरु तिन्हहूं घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं।।
कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।।
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारि मुई गृहसंपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।
जे बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी।।
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।।
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 99-100)

HMDC-066

शूद्र ब्राह्मणों से विवाद करते हैं और कहते हैं कि हम क्या तुमसे कुछ कम हैं? जो ब्रह्म को जानता है वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है – यह कह कर वे ब्राह्मणों को डाँट कर आँखें दिखाते हैं। जो परायी स्त्री में आसक्त, कपट करने में चतुर, मोह-ममता में लिपटे हुए हैं – ऐसे ही लोग ब्रह्म और जीव को एक बताने वाले अभेदवादी ज्ञानी हैं। मैंने उस युग का यह चरित्र देखा है। उपर्युक्त ज्ञानी-अभेदवादी स्वयं तो नष्ट हो ही चुके हैं – सन्मार्ग पर चलने वालों को भी नष्ट कर देते हैं। जो तर्क करके वेद की निन्दा करते हैं, ऐसे लोग युग-युग तक एक-से-एक नरक में पड़े रहते हैं। तेली, कुम्हार, चांडाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्ण में नीचे हैं, स्त्री के मरने पर या घर की संपत्ति नष्ट होने पर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपने को ब्राह्मण से पुजवाते हैं और अपने ही हाथों लोक-परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। ब्राह्मण अनपढ़, लोभी, कामी, आचरणहीन, मूर्ख और नीची जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी होते हैं। शूद्र नाना प्रकार के जप, तप और व्रत करते हैं तथा ऊंचे आसन वाली गद्दी पर बैठकर पुराण कथा का वाचन करते हैं। सब मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं। अपार अनीति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

आप पूछेंगे वेदों, स्मृतिग्रंथों और पुराणों का पालन न करने पर भी तो वे इतने ही क्षुब्ध और चिंतित हैं – इसके पीछे कारण क्या है? आप शायद यह भी जानना चाहेंगे कि ब्राह्मणों के प्रति निरादर के उल्लेखों के साथ जो गहरा विषाद झलकता है उसके मूल में क्या है? जब तुलसी के समसामयिकों ने उनसे पूछा था कि आज का सबसे बड़ा पुण्य क्या है तो उन्होंने जवाब दिया था - इस जगत में पुण्य एक ही है, उसके समान दूसरा नहीं। वह है मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 45)

ब्राह्मणों के द्रोही को, यदि वह देवराज इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान भी हो, तो भी यह राम कथा नहीं सुनानी चाहिए। जो द्विज-निन्दक है वह घोर नरक में जाएगा और कौए के रूप में पुनर्जन्म पाएगा (वही, पद संख्या 121)। गोस्वामी जी उन सबको यह शाप देते हैं कि वे युगों-युगों तक नरक में पड़े रहेंगे जो तर्क-वितर्क करके वेद की निंदा करते हैं, सकल निगमागम ज्ञान के प्रतिकूल आचरण करते हैं और हेतुवाद (तर्कवाद) के समर्थक हैं।

ब्राह्मणवादी वैदिक-पौराणिक संस्कृति, विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था के चतुर्दिक क्षरण के युग में वे रामभक्ति द्वारा समाज की पुरानी परिपाटियों को नवजीवन देना चाहते हैं। गोस्वामी जी इतिहास की गति पहचान नहीं पाते। वे यह समझ ही नहीं पाते कि वर्गीय अंतर्विरोध तीव्र हो रहे हैं और पुरानी व्यवस्था अपनी ही असंगतियों के परिणामस्वरूप लड़खड़ा रही है। यद्यपि भक्तिकालीन आंदोलन के उत्थान काल के सामाजिक प्रश्नों में सिर्फ एक प्रश्न पर वे सहमति व्यक्त करते हैं कि भगवान के दरबार में भक्ति का अधिकार सबके लिए एक-समान है और इस पहलू पर कोई गैर बराबरी नहीं हो सकती - पर यह बराबरी तो परलोक के लिए थी। इस लोक में यदि राम राज्य आएगा भी तो वर्णाश्रम के तहत शास्त्रों द्वारा निर्धारित विधान के तहत सब अपने-अपने कर्म ही करेंगे। पर जहाँ तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में वैधानिक और शास्त्रीय अंतर का प्रश्न है, उसमें कोई छूट नहीं होगी। भगवान के दरबार में भी ब्राह्मणों की ही श्रेष्ठता रहेगी, यद्यपि प्रभु की दृष्टि में दास सर्वप्रिय है :

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए।।
तिन्ह महँ द्विज, द्विजमहँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी।।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी।।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।।
पुनि पुनि सत्य कहउं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 86)

NMDC-066

पहले हम उनके तत्वदर्शन के चौखटे में स्त्री संबंधी उनके विचारों की छानबीन करें। गोस्वामी जी माया की साक्षात् मूर्ति के रूप में स्त्री समुदाय को देखते हैं। डॉ. रमेश कुंतल मेघ इसे 'रत्नावली ग्रंथि' मानते हैं। अद्वैतवाद की तर्क-व्यवस्था को वे स्त्री-प्रसंग में जब-जब रूपायित करते हैं उन्हें स्त्री और माया दोनों अभिन्न प्रतीत होती हैं। रामचरितमानस में नारद से प्रभु राम स्वयं कहते हैं - 'अति दारुन दुखद माया रुपी नारि' (अरण्यकांड, पद संख्या 43)। यह उक्ति छोटे-मोटे घटना-प्रसंगों में किसी नगण्य पात्र का तर्क-वितर्क नहीं है। भगवान राम जब नारद से यह स्पष्टीकरण दे रहे हैं कि उन्हें विवाह क्यों नहीं करने दिया गया, तभी स्त्री समुदाय पर पूरी वैचारिक चर्चा होती है। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए भगवान राम पुराण, वेद और संतमत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि मोह रूपी विपिन में स्त्री बसत ऋतु बनकर आती है और सौंदर्य-शोभा-मकरंद से प्रलुब्ध कर लेती है। आपको ये उक्तियाँ कविजनोचित सादृश्य वर्णन मात्र प्रतीत हो सकती हैं। इस प्रसंग के निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित पंक्तियों पर यदि आप ध्यान दें तो आपका संदेह दूर हो जाएगा:

अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।।

(रामचरितमानस, अरण्य कांड, पद संख्या 44)

अर्थात् युवती स्त्री अवगुणों की मूल, पीड़ा देने वाली और सब दुखों की खान है। इसलिए हे मुनि! मैंने उक्त ज्ञान के आधार पर तुम्हारे निवारण के लिए तुमको विवाह करने से रोका था।

स्त्री जाति के लिए तुलसी एक ही धर्म, एक ही नियम बताते हैं "काय वचन मन पति पद प्रेमा।'' पति चाहे जैसा भी हो - वृद्ध, रोगजर्जर, जड़, धनहीन, अंध, बधिर, कोधी, अतिदीन ... । इसके बावजूद ऐसे पति का अपमान करने वाली स्त्री यमपुरी जाती है। नारी अपनी सहज प्रकृति से ही "अपावन'' है। इसके अलावा 'बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी'' जैसी उक्तियाँ अनेक स्थलों पर आती हैं। पितृसत्तात्मक सामंती मूल्य-दृष्टि के तहत "तिरिया चरित्तर'' की अवधारणा तुलसी की काव्यकृतियों में भी बद्धमूल होकर बार-बार उभरती है।

तुलसी की सामाजिक संरचना में सामंती राजतंत्र की विचार-दृष्टि का प्रतिफलन सर्वत्र दिखाई देता है। गरीबनेवाज, दीनदयालु, कृपानिधान, दलितों-वंचितों के शरणदाता के रूप में सर्वशक्तिमान प्रभु राम की कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी व्यवस्था तो सामंती राजतंत्र की ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे, पर उस व्यवस्था में राजा के पद वे अपने आदर्शों के अनुकूल उदार राजा को अधिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा राजा जो सत्य, शील और सौंदर्य की प्रतिमूर्ति हो, अन्यायी का दलन करने वाला वीर और पराकमी हो, निर्धन-निस्सहाय लोगों के लिए करुणा-निधान हो और कठिन जीवन संग्राम में अविचलित रहने वाला साधक हो। राजा-प्रजा संबंधों के मामले में प्रजावत्सल हो, शरणागत को अभयदान देता हो। राम राज्य की परिकल्पना में तुलसी के ये आदर्श निहित थे। लेकिन उस राम राज्य में भी वर्णाश्रम अपने अविकृत शुद्ध रूप में फिर से जीवित हो जाये - उनकी इसी आशावादी कल्पना की झलक मिलती है। राम राज्य के सामाजिक-राजनीतिक आदर्श के प्रतिलोम के रूप में लंका के राजा का राज्य है। विलासिता, ऐश्वर्य, मदांधता, अविवेक, अनैतिकता और निरंकुशता का प्रतिनिधित्व रावण करता है।

राम के प्रति दास्य भाव - सेवक भाव - वाली भक्ति राजा-प्रजा संबंधों के बारे में उनकी सामाजिक-राजनीतिक मान्यताओं का ही भावात्मक प्रतिरूप है।

अपने युग की समस्याओं के समाधान के लिए तुलसी ने राम कथा के आख्यान का जो पुनर्गठित पाठ तैयार किया उसमें कलियुग के प्रतिलोम के रूप में राम राज्य वस्तुतः एक 'मिथकीय यूटोपिया' है। यह यूटोपिया भारतीय सामंतवाद के अभ्युदयकालीन राजतंत्र का आदर्शीकरण करता है, लोक-विश्वासों और दंतकथाओं को नये संदर्भों में काल्पनिक स्वरूप प्रदान करता है, मृत अतीत का वर्तमान जटिलताओं में नये सिरे से आह्वान करता है और प्राचीन की स्वप्नमयी अतिरंजना करता है - चाहे वह निरी फैंटेसी ही क्यों न हो जाए।

NMDC-066

13.4 तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना

मध्यकालीन भारतवर्ष में सामन्तवाद के पतन के साथ-साथ हिंदू धर्म में भी जकड़बंदी, सड़ांध, गतिरोध और दुर्निवार बुराइयों के लक्षण प्रकट हो रहे थे। पुरानी व्यवस्था के पंडितों ने वेद-वेदांत, पुराण, स्मृति और धर्मशास्त्र के नये-नये भाष्य प्रस्तुत कर मरणोन्मुख व्यवस्था को पुनर्जीवित करने और बचाने का प्रयास किया। जन्म, मुंडन, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि जैसे संस्कारों के अवसर पर वैदिक मंत्रों के पाठ के साथ कर्मकांडीय विधानों की पुन: जोर-शोर से प्रतिष्ठा की गई। जाति प्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था, यज्ञ विधान आदि को नए सिरे से अनुमोदित करने के पीछे तुर्क, अफगान, मुगल, पठान आदि विदेशी आक्रमणकारियों और उनके धार्मिक-सामाजिक विचारों से रक्षा के प्रयासों ने वैदिक-पौराणिक संस्कृति की पुन: प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति को नये सिरे से मजबूत कर दिया। सामंती शासक वर्ग ने अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक समझा और मुगल शासकों ने भी धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति से इस प्रवृत्ति को अपना समर्थन प्रदान किया। तुलसीदास की विचार-व्यवस्था और उनकी राजनीतिक चेतना उल्लिखित प्रवृत्ति के अनिवार्य अंग के रूप में विकसित हुई थी। कहना न होगा कि जनसाधारण पर ढाये जा रहे जुल्म, उनकी दुरवस्था, दरिद्रता तथा भूखे-नंगे लोगों की चीख-चीत्कार का वर्णन उन्होंने पूरी मार्मिकता और करुणा के साथ किया है। यहाँ तक कि महामारी, अकाल, गरीबी आदि की तत्कालीन वास्तविकता पूरी प्रखरता के साथ अंकित हो गई है। धार्मिक पाखंड, आडम्बर, झूठ, मक्कारी, अनैतिकता आदि का पर्दाफाश करने में भी गोस्वामी जी ने अपनी तरफ से कोई कसर नहीं छोड़ी है। पर अपने युग के सामाजिक-राजनीतिक संकट का हल प्रस्तुत करने में वे वैदिक-पौराणिक संस्कृति के ढाँचे से बाहर निकल ही नहीं पाते। उनके पास एक ही हल है - भक्ति, राम की भक्ति। उनका तर्क है कि राम गरीबनेवाज हैं, दीन दयालु हैं और शरणागत की रक्षा करने वाले भक्त-वत्सल और उद्धारक हैं। तुलसी वर्तमान यथार्थ के संकट का एक अतीतोन्मुख समाधान प्रस्तुत करने में राम कथा के सभी चरित्रों और उपाख्यानों का आदर्शीकरण करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के संपूर्ण कृतित्व के अंदर इस असंगति से उत्पन्न द्वन्द्व और तनाव की गूँज-अनुगूंज सुनी जा सकती है।

तुलसी के राम की दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। अपनी भक्ति के बल पर जात-कुजात, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब सभी बराबर हैं। भक्ति की भावभूमि से मानवीय समानता और एकता का आह्वान करने में तुलसी भक्तिकाल के किसी भी कृतिकार से पीछे नहीं हैं। पर वर्णाश्रम व्यवस्था की टूटन, जाति प्रथा के विनाश तथा श्रुति और स्मृति के अनादर से गोस्वामी तुलसीदास बहुत दुखी और संतप्त हैं। कलियुग की करालता के वर्णन में ऐसे प्रसंग बार-बार आते हैं। ब्राह्मणों के अनादर से भी वे बहुत परेशान और चिंतित हैं। वे जाति प्रथा के विनाशकारी परिणामों पर भी गौर नहीं करते। नाथों, सिद्धों और संतों की वे बार-बार खिल्ली उड़ाते हैं और ज्ञान मार्ग का खंडन करते हैं। भक्ति आंदोलन के मूल में अंतर्निहित विभिन्न दार्शनिक धाराओं के टकराव में वे तटस्थ नहीं हैं बल्कि खुल्लम-खुल्ला तौर पर गोरखनाथ, कबीर आदि पर फब्तियाँ कसते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद की प्रतिपत्तियों का अवलम्बन कर वे वेद-वेदांत, स्मृतियों और पुराणों की पुनर्रचित एक नयी विचार-व्यवस्था कायम करते हैं। इस विचार व्यवस्था में ज्ञान मार्ग का, संतों के रहस्यवाद का, जाति प्रथा को समूल नष्ट करने के आह्वान का, राम से भिन्न कृष्ण के स्वतंत्र व्यक्तित्व का पूरी तरह निषेध है। इस विचार-व्यवस्था में सिर्फ दास्य भाव की भक्ति है। इस भक्ति में नैतिकता मिली हुई है - इसीलिए सामाजिक उत्पीड़न के प्रति जागरूकता भी है। भक्त याचक है और भगवान राम दाता है। भक्ति का यह स्वरूप सामंती राजतंत्र के अंतर्गत निर्मित राजा-प्रजा संबंध का ही धार्मिक प्रतिबिम्ब है। "जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।" राजतंत्र के ऐसे स्वरूप की यूटोपिया या अतिरंजित आदर्शीकरण का प्रयास रामराज्य की परिकल्पना में प्रतिफलित हुआ है।

अन्याय, उत्पीड़न, दुराचार, पाखंड और अनैतिकता के राज्य के रूप में कलियुग का वर्णन आता है और ठीक इसके विपरीत राम राज्य आता है, जहाँ न्याय है, शांति है और सर्वत्र सुख है। तुलसी का राज्यादर्श ऐसे शासक की कल्पना है जिसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता, त्याग ही जिसका आचरण है और लोकहित ही जिसका जीवन लक्ष्य है। इस राज्य में वर्णाश्रम के अंतर्गत सभी अपने-अपने कर्तव्य

NMDC-066

का पालन करते हैं, पर ऊंच-नीच का भेद नहीं है। कोई निर्धन और दरिद्र नहीं है। पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण है। बादल समय पर जरूर बरसते हैं और सूर्य आवश्यकता के अनुरूप ही गर्मी देता है। शासन के पुण्य, धर्म और प्रताप से जनता सुखी और संतुष्ट है। परस्पर प्रीति है, कोई पीड़ा और अनाचार नहीं है। अल्पायु में मृत्यु नहीं होती और किसी को दैहिक, दैविक और भौतिक कष्ट नहीं होता। राजा इतना कम टैक्स ले कि किसी को पता न चले और उसके बदले में सुख-समृद्धि की वर्षा करे ताकि लोग कहें कि राजा दानी और प्रजापालक है। सूर्य के आचरण से हमें ऐसी ही शिक्षा लेनी चाहिए। सूर्य थोड़ा-थोड़ा करके पानी सोखता है पर वर्षाकाल में वही पानी जब बरसता है तो सब हर्षित हो जाते हैं-

बरषत, हरषत, लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सो होई।।

निर्भय और हृदयहीन संसार में तुलसी के राम राज्य की यह परिकल्पना उत्पीड़ित जनसाधारण के लिए असंदिग्ध रूप से चिरकाम्य आश्रय-स्थल बनी हुई है। तुलसी की लोकप्रियता और जनमन में राम के प्रति भक्ति और अनुराग का रहस्य भी यही है। चूंकि किसी भी शासक ने वास्तविक रूप में राम राज्य के कल्पित सुख को चरितार्थ नहीं किया है, अत: तुलसी के रामचरितमानस और उनके संपूर्ण कृतित्व को दरिद्र और वंचित जनसाधारण ने एक थाती के रूप में अपने सीने से लगा रखा है। इसी संदर्भ में गोस्वामी जी की उक्तियाँ सदियों से हृदयहीन विश्व का हृदय और काल्पनिक सुख की अनंत निधि बनी हुई हैं।

13.5 सारांश

इस इकाई में हमने तुलसीदास के काव्य में तत्कालीन समाज का अध्ययन किया है। तुलसीकालीन युग राजनैतिक स्थिरता का युग था। मुगल सल्तनत अपनी मजबूती और उठान पर थी। साहित्यिक - सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह रचनात्मक युग था - अबुल फजल, रहीम, रामदास, दादूदयाल अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य की रचना कर रहे थे। परंतु समाज परंपरागत रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। कोई वैज्ञानिक खोज नहीं हो रही थी। बौद्धिक परिवेश संकीर्ण था। इसी युग में तुलसी का जन्म हुआ था। तुलसी ने "कवितावली'' में समकालीन समाज का यथार्थ और कटु चित्रण किया है। परंतु अपने संपूर्ण दृष्टिकोण में तुलसी परंपरा का ही निर्वाह करते प्रतीत होते हैं। जाति-प्रथा, स्त्री-समाज और राजतंत्र के बारे में उनकी सोच आज की प्रगतिशील सोच से मेल नहीं खाती।

13.6 अभ्यास/प्रश्न

(1) कवितावली में तुलसीदास ने अपने समकालीन समाज का वर्णन किस प्रकार किया है?
(2) तुलसीदास की विचारधारा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

NMDC-066

इकाई 14 एक कवि के रूप में तुलसीदास

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 कविता के बारे में तुलसीदास के विचार
14.3 मर्मस्पर्शी जीवन प्रसंगों का चित्रण
14.4 तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक
14.5 तुलसी की काव्य कला
 14.5.1 काव्य भाषा
 14.5.2 छंद और संगीत
 14.5.3 काव्य का रूप विधान
 14.5.4 रामचरितमानस का रूप विधान
14.6 सारांश
14.7 अभ्यास/प्रश्न

14.0 उद्देश्य

तुलसीदास पर यह दूसरी इकाई है। पहली इकाई में आप तुलसी कालीन समाज, तुलसी की विचारधारा और तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना जैसे विषयों का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में हम तुलसी की कविता का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप:

- कविता के बारे में तुलसीदास के विचारों से अवगत हो सकेंगे,
- तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक का अवलोकन कर सकेंगे,
- उनके काव्य में जीवन की विभिन्न और महत्वपूर्ण स्थितियों के चित्रण को रेखांकित कर सकेंगे ; और
- उनकी काव्य कला का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

तुलसीदास लोक कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता जनभाषा (ब्रज, अवधी) में लिखी है। उनकी कविता में जीवन के अनेक प्रसंगों का विस्तृत और सूक्ष्म अंकन हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रामचरितमानस में अनेक मर्मस्पर्शी स्थलों का उल्लेख किया है। धनुषभंग होने पर परशुराम का आगमन और परशुराम-लक्ष्मण संवाद कवि की मौलिक कल्पना और सूझबूझ का प्रमाण है। इसी प्रकार के कई मार्मिक प्रसंग रामचरितमानास में भरे पड़े हैं। ''वैराग्य संदीपनी'' से लेकर 'हनुमान बाहुक' तक रचयिता के रूप में तुलसी एक से नहीं। उनकी काव्य-यात्रा में अनेक पड़ाव हैं, अनेक रंग हैं, अनेक छवियाँ हैं। तुलसीदास जनता के कवि हैं। उन्होंने दरबारी रचनाकारों और पतनशील सांस्कृतिक धारा का अनुसरण न कर भाषा-काव्य को समृद्ध किया है। उनकी कविताओं में ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी के साथ-साथ अरबी और फारसी के शब्दों का भी सृजनात्मक प्रयोग हुआ है। इसके कारण उनकी कविता जन-जन में लोकप्रिय हुई। इन्हीं पक्षों पर इस इकाई में विस्तार से विचार किया गया है और एक कवि के रूप में तुलसीदास की सफलताओं और असफलताओं को पहचानने की कोशिश की गई है।

14.2 कविता के बारे में तुलसीदास के विचार

तुलसीदास जन कवि थे। उन्होंने जनभाषा में कविताएँ लिखी हैं। संस्कृत जैसी देवभाषा और फारसी जैसी राजभाषा का उपयोग न कर अवध और ब्रज प्रदेश के ग्रामीण जनों की बोलियों में अपनी कविता

IHMDC-066

लिखने का उन्होंने निश्चय किया था। इसलिए प्रबुद्ध पंडित और ज्ञानी समाज से माफी माँगते हुए, क्षमा प्रार्थना करते हुए और अपनी सच्ची विनम्रता के साथ कहते हैं कि उनकी काव्यकृति में "जदपि कबित रस एकउ नाहीं", और वह "भनिति भदेस" अर्थात् एक गँवार की काव्य वाणी है। पर इसके बावजूद उनकी कविता गंगा नदी की पवित्र जलधारा के समान टेढ़ी-मेढ़ी चाल से हरहरा कर बह रही है –"गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की" (रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 10)। यद्यपि उनकी "गिरा ग्राम्य" है (गँवारू भाषा), पर उसकी सुंदरता "मनि मानिक मुकुता छवि जैसी" है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग तक जन-साधारण के दुःख दर्द, यथार्थ और संघर्ष का काव्य-विषय बनाने की परंपरा शुरू नहीं हुई थी। अतः तुलसीदास प्राकृत जनों के गुनगान अंकित नहीं करते, क्योंकि इससे तो सरस्वती पछताने लगती कि इस कवि की वाणी में साक्षात् मैं क्यों प्रगट हुई। पर श्रेष्ठ विचारों और आदर्श नायक रामचंद्र के चरित्र की कथाओं से मुक्तामणि के समान कविता लिखने का उनका प्रयत्न है।

गोस्वामी जी रामचरितमानस में अपने चरितनायक के आख्यान का आरंभ करने से पहले अपने मन को भरोसा देते हैं कि वाल्मीकि, व्यास तथा प्राकृत कवियों ने जो काव्य-परंपरा बनायी है, उसकी सहायता से वे काव्य रचना कर लेंगे -

चरन कमल बंदउं तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे।।
कलि के कबिन्ह करउं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।।
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषां जिन्ह हरि चरित बखाने।।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउं सबहि कपट सब त्यागें।।
होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू।।
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं।।
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।
राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अंदेसा।।
तुम्हरी कृपाँ सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे।।
सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।।
सहज बयर बिसराइ रिप जो सुनि करहिं बखान।।
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोर।।
करहु कृपा हरि जस कहउं पुनि पुनि करउं निहोर।।

अर्थात् मैं उन सब श्रेष्ठ कवियों के चरण-कमलों में अपनी वंदना अर्पित करता हूँ, वे मेरे सभी मनोरथों (काव्य रचना के संकल्प) को पूरा करें। कलियुग के उन कवियों को भी मैं प्रणाम करता हूँ जिन्होंने रघुपति की गुणगाथा का वर्णन किया है। जो बड़े बुद्धिमान प्राकृत (भाषाओं के) कवि हैं, जिन्होंने जनभाषाओं में हरिचरित्र का बखान किया है, जो ऐसे पूर्ववर्ती कवि हैं और भविष्य में होंगे, उन सबको निष्कपट भाव से मैं प्रणाम करता हूँ। आप सब मुझे वरदान दीजिए कि सज्जनों (साधु) के समाज में मेरी कविता का सम्मान हो क्योंकि बुद्धिमान लोग जिस कविता का आदर नहीं करते, उस कविता की रचना का व्यर्थ परिश्रम मूर्ख या बालबुद्धि रचनाकार ही करता है। कीर्ति, कविता और विभूति (अथवा संपत्ति) वही उत्तम है जो गंगा नदी के समान सबका हित करने वाली हो। राम की कीर्ति तो सुंदर है, पर मेरी कविता गँवारू भाषा में है (अथवा भद्दी है)। मेरी यही चिंता है, मेरा यह असमंजस है। परन्तु हे कवियो! आपकी कृपा से मेरी यह चिंता भी दूर हो जाएगी, इस असमंजस का हल भी निकल जाएगा क्योंकि रेशम की सिलाई टाट पर भी सुहावनी लगने लगती है। सुजान लोग उसी कविता का आदर करते हैं जो सरल हो, जिसमें निर्मल चरित्र का वर्णन हो तथा जिसे सुनकर शत्रु भी अत्यंत सहजता से वैर भूलकर सराहना करने लगते हैं। पर ऐसी कविता निर्मल बुद्धि के बिना रची ही नहीं जा सकती - दिक्कत यह है कि मेरी बुद्धि का बल बहुत ही थोड़ा है। इसलिए बार-बार निहोरा करता हूँ कि हे कवियो! आप कृपा करें जिससे मैं राम की महिमा (हरि यश) का वर्णन कर सकूँ।

प्रबुद्ध समाज में तुलसी अपनी कविता का आदर चाहते हैं। "जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं" जैसी उक्ति से स्पष्ट है कि बुद्धिमानों की बुद्धिमता को वे पैरों की जूती नहीं समझते। काव्य धार्मिक

NMDC-066

पूजा-आराधना, श्रद्धा-विश्वास के कर्मकांड की पूर्ति के लिए मंदिर निर्माण नहीं है - गंगा नदी के समान सबका हित करने वाली भावधारा है। कविता के संबंध में तुलसी के इन विचारों पर ध्यान देना आवश्यक है। रामचरितमानस रूपी सरोवर के अवगाहन के लिए वे "कबि कोबिद" को आमंत्रित करते हैं और उन्हें "मानस मंजु मराल" की संज्ञा देते हैं अर्थात् विवेक और बुद्धिमत्ता के प्रतीक के रूप में हंस का स्वागत करते हैं - बुद्धिवाद के जूते को बाहर ही उतार देने का निर्देश नहीं देते। डॉ. लल्लन राय ने ठीक ही कहा है कि "तुलसी ने काव्य के संबंध में अपने लिए जो प्रतिमान निर्धारित किए थे उसमें समाजनिष्ठता सर्वोपरि है।" (तुलसी की साहित्य साधना, पृ. 39)।

काव्य के स्वरूप और लक्षण को परिभाषित करते हुए गोस्वामी जी रामचरितमानस के पहले श्लोक में ही कहते हैं -

वर्णनामर्थसंधानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।।

मंगलाचरण के अंतर्गत ही भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा से प्राप्त काव्यादर्श को स्वीकार करते हुए वे रस और छंद को काव्य के अनिवार्य उपादान के रूप में परिगणित करते हैं। पर इन उपादानों की सार्थकता तभी है जब मंगल भी हो, लोक-कल्याण की भावना भी हो। वस्तुतः यह लोकमंगल ही उनकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन है।

पर इस लोकमंगल के प्रयोजन को कविता के माध्यम से तभी चरितार्थ या उपलब्ध किया जा सकता है जब श्रेष्ठ विचारों की मूसलाधार वर्षा हो - "जौं बरषइ बर बारि बिचारू"। रूपक के माध्यम से काव्य की सृजन प्रक्रिया को तुलसी स्पष्ट करते हैं और इस क्रम में अपने काव्यदर्श को सटीक ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। यह रूपक इस प्रकार है -

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।।
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुता मनि चारू।।

कवि हृदय रूपी सिंधु में ही कविता रूपी श्रेष्ठ मोती की उत्पत्ति होती है। पर इसके लिएं पूर्व शर्त यह है कि श्रेष्ठ विचार रूपी जल की वर्षा हो। उपर्युक्त पद की सांकेतिक व्यंजनाओं पर अगर ठीक से ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी कवि के हृदय की विशालता, उदारता और विपुलता आवश्यक मानते हैं - और सामाजिक जीवन के प्रेक्षणों से प्राप्त नैतिक आदर्शों और विवेकपूर्ण विचारों की धाराप्रवाह दृष्टि भी आवश्यक मानते हैं अन्यथा मति रूपी सीप में मोती की सृष्टि नहीं हो सकती।

14.3 मर्मस्पर्शी जीवन प्रसंगों का चित्रण

आप इस बात से परिचित होंगे कि हिंदी समालोचना में तुलसी साहित्य के विवेचन के संदर्भ में "मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान" का प्रश्न प्रबंधकार कवि की भावुकता और कलात्मक सामर्थ्य की निर्णायक कसौटी के रूप में मान्य रहा है। तुलसीदास पर आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित जो निबंध 'त्रिवेणी" में संकलित है, उसका प्रस्थान बिंदु इस कसौटी का सूत्रीकरण करता है-

"प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं - राम का अयोध्या त्याग और पथिक के रूप में वनगमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।"

HMDC-066

कथा विन्यास के अंतर्गत धनुष-भंग होने पर परशुराम की आकस्मिक उपस्थिति और राम-लक्ष्मण से उनके संवाद में एक मनोरंजक नाटकीय स्थिति की कल्पना में निःसंदेह एक मौलिक सूझबूझ है। धनुष टूट चुका है। चारों तरफ आनन्द और हर्ष है। सखियाँ मंगलाचार के गीत शुरू कर देती हैं। सीता ने राम के गले में जयमाला पहना दी। सहसा कोलाहल सुनकर सीता सशंकित हुई - परशुराम प्रगट हुए - भृकुटि कुटिल, नयन क्रोध से लाल, वृषभ के समान कंधे, विशाल छाती और भुजाएँ, सुंदर यज्ञोपवीत, माला, मृगचर्म, वल्कल, तरकस, धनुष-बाण और कंधे पर फरसा। पूछते हैं - कहु जड़ जनक धनुष के तोरा? राम कहते हैं आपके दास ने तोड़ा। परशुराम कहते हैं - सहस बान सम सो रिपु मोरा। लक्ष्मा थोड़ा मुस्कुराये और बोले-

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाई। कबहुं न असि रिस कीन्हि गोसाई।।
एहि धनु पर ममता केहि हेतु। सुनि रिसाइ कह भृगकुल केतु।।

भृगुवंश की ध्वजा के समान अपनी प्रचंड क्रोधाग्नि लहराते हुए परशुराम बोले - अरे मूर्ख तू मुझे निरा मुनि समझता है। मैं तो क्षत्रिय कुल द्रोही के रूप में विश्वविदित हूँ - मेरे फरसे को देख। यह गर्भ के बच्चे का भी नाश करने वाला है। तुलसीदास द्वारा इस मुठभेड़ के क्षण में लक्ष्मण की प्रतिकिया का अंकन आपको अवश्य ही मनोरंजक प्रतीत होगा -

पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूंकि पहारू।।
इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनि देखि मरि जाहीं।।

लक्ष्मण के उत्तर परशुराम की कोधाग्नि के लिए आहुति के समान थे। परशुराम लक्ष्मण को तुरंत अपने फरसे से काटकर यमपुरी भेजने की धमकी देते हैं। इसी बीच राम हस्तक्षेप करते हैं और अपने अलौकिक अतिप्राकृतिक चमत्कारी करतब से परशुराम को शांत कर देते हैं। परशुराम कहते हैं -

अनुचित बहुत कहेउं अग्याता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता।।

कथा-श्रोता और रामलीला के दर्शक के लिए सारा सस्पेंस, सारा औत्सुक्य और कुतूहल अस्वाभाविक ढंग से खत्म हो जाता है। इस दृश्य चित्रण पर आपकी प्रतिक्रिया क्या है? क्या आप यह महसूस नहीं करते कि कंट्रास्ट उपस्थित करने में, द्वन्द्व और नाटकीयता उत्पन्न करने में तुलसी की कला महान है, पर उसकी सृजनात्मक संभावना उनके विचार दर्शन के कारण अपनी पूर्ण परिणति तक पहुँचने के पहले ही कुंठित हो जाती है? कवितावली के बालकांड में भी यही स्थिति है।

जहाँ तक राम के वनवास का कथा प्रसंग है, "तुलसी की भावुकता" शीर्षक निबंध में आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत विशद विवेचन को आपने अवश्य ही पढ़ा होगा। कुछ याद कीजिए उन्होंने क्या-क्या कहा है। "अत्यंत सहृदयता से वर्णन", वनगमन के "दृश्य वर्णन में कुछ उठान दीखता", राम के वियोग मे अयोध्या की विषादमग्नता का चित्रण - आचार्य शुक्ल द्वारा दिये गये इन सूत्रों के सहारे इस दृश्य-खंड के मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्रण पर संभवतः आप भी उतने ही मांग होंगे।

राम के वनगमन के पहले दशरथ-कैकयी संवाद में अंतःपुर के दृश्य के अंतर्गत छल और निश्छलता, कपट और सत्य, प्रेम और द्वेष की द्वन्द्वभरी भावनाओं के संघर्ष को भी ध्यान से पढ़ना चाहिए। कैकेयी की कटु-कर्कशा और कुतर्की संवाद-भाषा प्रस्तुत करने में गोस्वामी जी को कोई हरा नहीं सकता। जनसाधारण की बातचीत में आपने नोट किया होगा कि लोग "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाः बरू बचनु न जाई।।" जैसी पंक्ति का लोकोक्ति की तरह अपने जीवन-व्यवहार में इस्तेमाल करते हैं। दरअसल यह कैकेई की उक्ति है जिसे उसने दशरथ को परास्त करने के लिए एक आदर्श मानदंड के रूप में पेश किया है। जब कैकेयी ने भरत के लिए राजसिंघासन और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांगा तो राजा विवर्ण हो गए मानो बिजली ताड़वृक्ष पर बरबस टूट गिरी हो -

बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ इमरू तालू।।

HMDC-066

ऐसे मन:संताप के उद्विग्न क्षण में आपने कैकेयी की टिप्पणी अवश्य ही सुनी होगी - क्या भरत आपका पुत्र नहीं है? क्या मुझे आप बाजार से खरीदी औरत की तरह ले आये हैं? आपने वर देने के लिए कहा था। आप क्या समझ बैठे थे कि मैं वर के रूप में चबेना माँगूगी? दशरथ को प्रचंड कोध से जलती हुई कैकेयी ऐसी प्रतीत हुई मानो कोध रूपी तलवार म्यान से बाहर आ गई हो - कुबुद्धि उस तलवार की मूठ है, निष्ठुरता धार है और मंथरा रूपी सान पर रगड़ कर तेज की गई है - "लखी महीप कराल कठोरा।'' राजा हार जाते हैं और राम के वनवास का आदेश होता है। कौशल्या जब यह सुनती हैं तो इस भंयकर आघात के मारे सन्न रह जाती हैं।

राम, सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या से विदा हो जाते हैं। इस दृश्य का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है -

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अंधियारी।।
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी।।

अगर आप रामचरितमानस और कवितावली - दोनों के वनगमन दृश्य को मिलाकर पढ़ें तो कवितावली के अनेक पद आपको काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सुंदर प्रतीत होंगे। उदाहरण के लिए कवितावली के ये पद -

फीर के कागर ज्यों नृप चीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग लोगाई।।
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिव लोचन रामु चले तजि बाप को राजु बहाउ की नाई।।
कागर कीर ज्यों भूषन-चीर सरीख लस्यो तजि नीरू ज्यों काई।।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभायैं सनेह सगाई।।
संग सुभामिनि, भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाउ की नाई।।

एक अदना से बटोही की नाईं राम अवध से विदा लेकर चल पड़े। राजवस्त्र और आभूषण तोते क जीर्ण पड़े पंखों के समान त्याग कर राम वैसे ही स्वाभाविक सौंदर्य से सुशोभित हो उठे जैसे काई हटने पर स्वच्छ जल। इस वर्णन को आप किस प्रकार विवेचित करेंगे? यही न कि लोकसामान्य भावभूमि पर साधारण मनुष्य के रूप में चित्रण किया जा रहा है?

आप जानना चाहेंगे कि राम के वनवास पर जनसाधारण खासकर ग्रामीण जनों की क्या प्रतिक्रिया होती है? संपूर्ण रामचरितमानस में ऐसे मर्मस्पर्शी कथा प्रसंगों के अवसर पर सीधे-सादे गाँव के लोगों की प्रति कियाओं का बड़ा भाव विह्वल चित्रण किया गया है-

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई।।
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी।।

निरीह विपन्न ग्रामीण लोग सहृदय और उदार हैं। उनके पास जो भी है, उसे लेकर सत्कार करते हैं। स्त्रियाँ सीता की आवभगत करती हैं, परिचय प्राप्त करती हैं। राम का परिचय देने में सीता को कठिनाई है। तुलसी ने बड़ी सहजता से वर्णन किया है-

खंजन मंजु तिरीछे नयनि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।
भई मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।।

HMDC-066

खंजन पक्षी के समाम अपने नयनों को जरा तिरछा करके सीता ने इशारे से बताया कि ये मेरे पति हैं। ग्राम वधूटियाँ परम आनंदित हुईं मानो कंगालों को लूट के रूप में अपार धनराशि प्राप्त हो गई हो।

वनवास, पर्णकुटी, कंदमूल फूल और साधनहीन वन्य जीवन। ऐसे वर्णनों के बीच आपको तुलसी की संवेदनाओं का विस्तार दिखाई पड़ेगा।

लेकिन उधर भरत और कैकेयी के संवाद में गोस्वामी जी अपनी महान कलात्मक प्रतिभा का परिचय देते हैं। सब लोग मानो इस संवाद की प्रतीक्षा में हैं। खास तौर पर यह जानने के लिए कि देखें भरत क्या कहते हैं। तब तक भरत को कुछ भी पता नहीं है। ममहर से लौट कर आते हैं। पिता की मृत्यु, स्वयं को राजगद्दी और राम को वनवास की सारी कहानी उन्हें बतायी जाती है। कुतूहल, उत्कंठा और बेचैनी के साथ भरत की प्रति क्रिया जानने की बेसब्री है।

कैकेयी भरत से कहती है जो होना था हो गया, अब जी भरकर समाज सहित नगर का राज्य संभालो। भरत को ऐसा लगा मानो घाव पर किसी ने जलता हुआ अंगार डाल दिया। लम्बी साँस लेते हुए उन्होंने कहा –

जब तैं कुमति कुमत जियै ठयऊ। खंड खंड होई हृदय न गयऊ।।
बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।।

भरत के निश्छल, सत्यव्रती और पवित्र हृदय के ज्ञान, विवेक और स्वच्छ विचार को दर्शाने के लिए तुलसी भरत के मुँह से शापवाणी की वर्षा करवा रहे हैं। एक सामान्य आदमी दुष्टा स्त्री को जैसी गाली देता है, उसी तरह। भरत के चरित्र की उज्ज्वलता दर्शाकर तुलसी संयुक्त परिवार के अंदर भाईचारे का भावोत्कर्ष दिखलाते हैं। माता की कुटिलता से शत्रुघ्न भी इतने पीड़ित हैं। ज्यों ही मंथरा आती है शत्रुघ्न उसकी कूबड़ पर लातों से आघात करते हैं।

इसके बाद चित्रकूट में राम और भरत का मिलाप होता है। इस घटनावृत्त की कुंजी बतलाते हुए आचार्य शुक्ल ठीक ही कहते हैं कि यह "शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है।" (त्रिवेणी, पृ. 116)। ज्यों ही लक्ष्मण ने बताया कि भरत मिलने आ पहुंचे हैं और प्रणाम कर रहे हैं – राम प्रेमपुलकित और अधीर होकर उठ खड़े – कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकस, कहीं धनुष और कहीं बाण –

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।।

सीता हरण के बाद राम के वियोग दग्ध हृदय की व्याकुलता के वर्णन में भी गोस्वामी जी ने अपनी महान कलात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इससे बढ़कर और क्या मार्मिक आघात हो सकता है। लता, पल्लव, विटप, खग, मृग, मधुकर श्रेणी से राम पूछते हैं क्या तुम लोगों ने मेरी सीता मृगनयनी को कहीं देखा है। 'अरण्य कांड' में इस दृश्य की मार्मिकता को तुलसी बहुत सँभाल नहीं पाते हैं। नारद से संवाद के बाद इस वृत्तान्त पर वही मायावादी टिप्पणी जड़ दी जाती है – युवती स्त्रियों का शरीर दीपक की लौ के समान है। हे मन तू उसका पतंगा न बन –

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।

इसके बाद लंका कांड का युद्ध वर्णन है। कल्पना प्रसूत इस कथाबंध में आहत लक्ष्मण की बेहोशी के वक्त राम की व्याकुलता का वर्णन हृदय स्पर्शी है। इसके बाद रणभूमि में विरथ रघुवीर से विभीषण का प्रश्न है कि शत्रु तो बलवान है और रथ पर सवार है। भला आप युद्ध कैसे जीतेंगे। रणभूमि में इस शंका के समाधान के लिए धर्मरथ का रूपक खींच कर राम विभीषण को आश्वासन देते हैं। धर्मरथ का रूपक तुलसी के विचार दर्शन को मूर्त रूप प्रदान करता है:-

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा।।
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना।।
सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरतिवर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अचल अमल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।

अर्थात् इस धर्मरथ में शौर्य और धैर्य पहिये हैं, सत्य और शील दृढ़ ध्वजा-पताका हैं, बल, विवेक, दम और परोपकार - ये चार घोड़े हैं जो क्षमा, दया और समता की रस्सियों से रथ को जोड़े हुए हैं, ईश्वर-भजन सारथी है, वैराग्य और संतोष ढाल-तलवार हैं। दान फरसा है, बुद्धि प्रचंड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है। निर्मल और अचल मन तरकस के समान है। शम, यम और नियम बाणों के समान हैं। ब्राह्मण और गुरू का पूजन अभेद्य कवच है। इस धर्मरथ के अलावा और किसी उपाय से युद्ध जीता नहीं जा सकता। हे सखा विभीषण! ऐसा धर्ममय रथ जिसके पास हो उसे कोई भी दुश्मन हरा नहीं सकता।

अन्यायी और कपटी शत्रु से युद्ध के लिए ऐसे धर्मरथ का रूपक खड़ा कर तुलसी फिर उसी अलौकिक अति प्राकृतिक चमत्कार का सृजन करते हैं जो वास्तविक चुनौतियों के विरूद्ध तैयारी की भावना को व्यर्थ कर देता है। आपको यह शंका अवश्य होगी कि लौकिक और अलौकिक के मिश्रण से रागात्मक संवेदना का ऐसा तनाव महाकाव्यकार क्यों उत्पन्न करता है? आध्यात्मिक-धार्मिक तात्पर्यों से रचित रूपकों की भरमार तुलसी में क्यों है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर देते वक्त कुछ समीक्षक मध्यकालीन समाज के अंतर्विरोध की व्याख्या का ऐसा सांचा (हिंदू-मुस्लिम संघर्ष) प्रस्तुत करते हैं जिससे एक रचनाकार के नाते तुलसी की सामाजिक सौंदर्य-संवेदना का वस्तुगत तरीके से स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। एक रचनाकार के नाते तुलसी के मध्यकालीन बोध की यह सीमा भी थी और असंगति भी। बाल कांड में अवतारवादी जीवन-दर्शन के अंतर्गत धर्म की हानि और असुरों के अत्याचार से पृथ्वी की रक्षा के लिए परब्रह्म परमेश्वर के अवतार की कथा आती है। रावण को यह वरदान प्राप्त था कि उसकी मृत्यु मनुष्य के हाथों होगी। अत: नर-रूप में राम ने रघुकुल में जन्म लिया। धर्म की रक्षा, असुर समूह का विनाश और रावण का संहार दिखलाकर रामचरित को उत्कर्ष बिंदु तक पहुँचाने का कम पूरा हुआ। लंका कांड के अंत में इस प्रचंड युद्धलीला के दृश्य चित्रण के कम में गोस्वामी जी कुतूहलवर्द्धक अपशकुन संबंधी अंधविश्वासों की भी चर्चा करते हैं। अंत में कानों तक धनुष को खींचकर राम ने इकतीस बाण छोड़े - ऐसे बाण जो कालसर्प के समान थे - "रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फँनीस।'' एक बाण ने रावण की नाभि के अमृतकुंड को सोख लिया, अन्य तीस बाणों से सिर एवं भुजाओं सहित उसका धड़ पृथ्वी पर नाचने लगा - 'सिर भुजहीन रूंड महि नाचा।'' धड़ प्रचंड वेग से दौड़ता है। फिर राम ने एक बाण मारकर उसके दो टुकड़े कर दिए। मरते-मरते रावण की गर्जना सुनाई पड़ी -

गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी।।
डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर।।
धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई। चापि भालि मर्कट समुदाई।।
मंदोदरि आगें भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा।।
प्रबिसे सब निषंग महँ जाई। देखि सुरन्ह दुंदुभीं बजाई।।

HMDC-066

रावण के गिरते ही पृथ्वी काँप उठी और राम के बाण रावण की भुजाओं समेत उसके रूंडमुंड को मंदोदरी के सामने रखकर फिर राम के तरकस में लौट कर समा गए। और अंत में राम का तेज प्रभु राम के मुख में समा गया - "तासु तेज समान प्रभु आनन।'

अवतारी मर्यादा पुरूषोत्तम की यह पराक्रमी नरलीला अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण है और युद्धभूमि में अतिप्राकृतिक चमत्कारों से सबको अभिभूत कर लेती है। सत्य की विजय होगी - नरोत्तम राम की ही विजय होगी - सब कुछ पहले से निश्चित है। मध्यकालीन बोध की यही सीमा है। पौराणिक आख्यान परंपरा से तुलसी कोई प्रश्न नहीं पूछते, उसकी तार्किक आलोचना भी नहीं करते बल्कि उसे लोकविश्वास का हिस्सा बनाने में अपनी नयी भूमिका जोड़कर और भी प्रगाढ़ता प्रदान करते हैं। इस सवाल पर हो रही साहित्यिक बहस को जानने के लिए डॉ. रमेश कुन्तल की पुस्तक "तुलसी : आधुनिक वातायन से'' अवश्य पढ़ें। उनकी मान्यता है "मिथकीय रामवृत्त के चरित्र अलौकिक और लौकिक दोनों शील धारण करते प्रतीत होते हैं। इसीलिए वे वाल्मीकि के नर-नरोत्तम राम न होकर नारायण (सगुण परब्रह्म) हो जाते हैं। अत: जिस तरह वाल्मीकि ने "रामायण'' के पात्रों की वैदिक-अर्द्ध-पौराणिक व्याख्याएँ की हैं, उसी तरह तुलसी ने राम के मिथक प्रतीक (राम, रामवृत्त के पात्र, रामचरित) की "तत्कालीन एक पूर्ण वैष्णव व्याख्या'' पेश की है।'' (वही, पृ. 160)

आख्यान के सिर्फ हृदय विदारक घटना-प्रसंगों को चुनने की समस्या नहीं है। ऐसे प्रसंगों के चयन के पीछे अनिवार्य रूप में अंतर्निहित विचार-दृष्टि, युगबोध, लोकहृदय की मर्मज्ञता और ऐतिहासिक प्रेरणाओं के उपादान समवेत रूप में काव्य-विवेक का निर्माण करते हैं। मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान और उनके कलात्मक चित्रण का प्रश्न मूलत: काव्य-विवेक की विवेचना की मांग करता है।

आपके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि तुलसी से संबंधित समालोचनाओं में "मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान'' वाली यह कसौटी किस सीमा तक चर्चा का विषय रही है? तुलसी साहित्य के अधिकांश मर्मज्ञों ने इसी कसौटी को अपनी साहित्यिक विवेचना का आधार बनाया है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल "त्रिवेणी'' के ऊपर उद्धृत अनुच्छेद में ऐसे पाँच मर्मस्पर्शी स्थल बताए गए हैं।

वाल्मीकि, भवभूति आदि द्वारा वर्णित रामकथा में सीता के निर्वासन का प्रसंग गोस्वामी तुलसीदास ने न तो "रामचरितमानस'' में लिया, न "बरवै रामायण'' में और न "कवितावली' में। वाल्मीकि ने जितनी गहरी मार्मिकता और करुणा के साथ सीता के निर्वासन और वनवास का चित्रण किया है, उसके आगे राम का वनगमन एकदम बेजान और फीका लगता है। रामविलास शर्मा ने "आदिकाव्य' नामक निबंध में इस प्रश्न पर बेबाक टिप्पणी की है। "राम के साथ लक्ष्मण और सीता भी गए थे और इनके साथ रहने से राम को अयोध्या की याद बहुत न आती थी। लेकिन गर्भिणी सीता को धोखा देकर उनका वन में त्याग करना ऐसी हृदय विदारक घटना है जिससे राम के वनवास की तुलना की ही नहीं जा सकती। रामायण की इसी घटना को लेकर उत्तर रामचरित और कुन्दमाला जैसे महानाटकों की रचना की गई है। लेकिन सीता के त्याग में जिस क्रूरता का आभास आदिकवि ने दिया है, परवर्ती कवि उसे छू नहीं सके। गोमती के किनारे दुख से बेहोश होकर सीता के गिर पड़ने में जो स्वाभाविकता है, परवर्ती कवि अपने अलंकृत वर्णनों में उसे नहीं पा सके। सीता एक वीर नारी है।'' (भाषा, युगबोध और कविता, पृ. 23-24)

आखिर तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञों ने रामचरितमानस में कथा के पुनर्विन्यास के इस पक्ष पर विचार क्यों नहीं किया? इसके पीछे गोस्वामी जी की विचार दृष्टि क्या थी? क्या स्त्री को बार-बार अज्ञ, "सकल कपट अवगुन खानी'' और ताड़न की अधिकारिणी मानने वाली दृष्टि ही इस काट-छाँट के लिए जिम्मेदार नहीं थी? इन शंकाओं के संबंध में अनेक विद्वानों द्वारा यह समाधान सुझाया गया है कि चूंकि तुलसीदास राम का वर्णन एक अवतारी पुरुष के रूप में करना चाहते थे, अत: लंका में विजय और रावण के संहार के साथ उनके चरित्र का उत्कर्ष राम-राज्य की स्थापना में दिखाकर उन्होंने अपने युग को एक संदेश दे दिया है। उनका अभिप्रेत मात्र इतना ही था। आपको भी संदेह होगा - फिर

IMDC-066

गोस्वामी जी बार-बार रामकथा के बखान की प्रतिज्ञा क्यों दोहराते हैं? सीता के निर्वासन और लवकुश के बिना यह कथा अधूरी रह जाएगी - क्या उन्हें इतना भी अनुमान न था?

इस चर्चा से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि रामकथा के पुनर्विन्यास के कम में "मार्मिक स्थल की पहचान" की असफलता ने रामचरितमानस की प्रभावोत्पादकता को घटाया है। कथाविन्यास का एक और प्रसंग जिसे गोस्वामी जी ने छोड़ दिया है, वह है शम्बूक वध। वाल्मीकि के राम एक शुद्र तपस्वी का वध करते हुए ज़रा भी नहीं झिझकते। इधर सिर कटा, उधर देवता फूल बरसाने लगे। भवभूति के राम हिचक, खीझ और किंचित करुणा के बावजूद यह कहकर कृपाण चलाते हैं कि जिस राम को गर्भिणी सीता के निर्वासन में उद्विग्नता नहीं हुई वह राम शम्बूक का वध करने में आगा-पीछा क्यों करें। "तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम द्वारा शूद्र तपस्वी का वध नहीं करवाया है। तुलसी के राम ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं, वे शायद गुणी होने पर भी शुद्र का वध नहीं कर सकते। भक्ति आंदोलन वर्ण व्यवस्था को तोड़ता था।" (डा. विश्वनाथ त्रिपाठी, लोकवादी तुलसीदास पृ. 23)

वर्णाश्रम व्यवस्था में जो सबसे नीचे था, उस शूद्र जाति के दीन-दलित तपस्वी के वध से राम के गरीब निवाज, कृपालु और राम-राज्य के संस्थापक आदर्शवादी राजा के चरित्र की असंगति के चित्रण में अपने युगबोध और अपनी करुणा के लिए जो अवसर मिल सकता था, तुलसी उसे भी पहचान नहीं पाये।

14.4 तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक

गोस्वामी जी के काव्य की विवेचना के प्रसंग में तथा भक्त कवियों के बीच उनकी विशिष्टता के संदर्भ में आपने आचार्य शुक्ल का सूत्र वाक्य जरूर सुना होगा - **प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव, जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार, हिंदी के सभी कवियों में उनकी सर्वांगपूर्ण भावुकता, मानव प्रकृति के अधिकाधिक रूपों के साथ उनके हृदय का रामात्मक सामंजस्य।** काव्य-सृजन के इन विशिष्ट उपादानों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था - **"यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।"** (त्रिवेणी, पृ. 122)

रामकथा में अंतर्भूत संघर्षशील विराट जीवन का वैविध्य तथा मुगल शासन के अंतर्गत दुर्दशाग्रस्त वैषम्यपूर्ण जनजीवन - ये दोनों परस्पर घुलमिल गए हैं। आपने अवश्य ही ध्यान दिया होगा कि उपर्युक्त दोनों पहलुओं की परस्पर घुलनशीलता से तुलसी का काव्य इतना मार्मिक और भाव-व्यंजक हो गया है कि उत्तरी भारत के हिंदी भाषी अपढ़ जनगण तक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, द्वेष-ईर्ष्या के क्षणों में तुलसी के वाक्यों को स्वयंसिद्ध लोकोक्ति के रूप में उद्धृत कर देते हैं ; कभी संत और असंत, सज्जन और दुर्जन का फर्क समझाते हुए, कभी खलों का स्वभाव बतलाते हुए, कभी अन्याय और अत्याचार का हवाला देते हुए, कभी नीति और अनीति, सदाचार और दुराचार की व्याख्या करते हुए। इसीलिए कहा जाता है कि तुलसी लोकप्रिय हैं, लोकहृदय के मर्मज्ञ हैं। कुछ लोग धर्म और भक्ति के लिए भी उन्हें याद करते हैं। हिंदू गृहस्थ परिवारों में रामचरितमानस के नियमित पाठ का भी चलन अभी समाप्त नहीं हुआ है। लेकिन तुलसी धर्म और भक्ति के मार्ग के पथ-प्रदर्शक के नाते बीसवीं सदी के श्रोताओं-पाठकों के लिए उतने प्रासंगिक नहीं हैं, जितने नैतिक लोकानुभव के सूक्तिकोश के रूप में। जब तक यह उत्पीड़नकारी वैषम्यपूर्ण समाज व्यवस्था है तब तक तुलसी काव्य की वैविध्यपूर्ण व्यंजना की शक्ति क्षीण नहीं पड़ेगी। इस व्यंजना में भक्ति, धर्म, नैतिकता, मानवीय मूल्य, संयुक्त परिवार की आचार संहिता, न्याय-अन्याय बोध सब कुछ समाहित रहता है। जीवन के विराट दृश्य-फलक पर तुलसी की दृष्टि की चर्चा आपको अपूर्ण प्रतीत होगी यदि आप कलियुग और राम राज्य के वर्णन को ध्यान से न पढ़ें, यदि आप दीन-दुःखी और दरिद्र जनसाधारण के प्रवक्ता और परामर्शदाता के रूप में गोस्वामी जी के विनय संबंधी पदों और गीतों की संवेदनशीलता में अंतर्निहित गहरी व्यंजना को न समझें। "वैराग्य संदीपनी" से "हनुमान बाहुक" तक एक रचयिता के रूप में तुलसी में हो रहे निरंतर

परिवर्तनों पर ध्यान अवश्य दें वर्ना उनकी कविताओं के बदलते हुए बहु-अर्थ और उनकी रंगारंग बहु-छवि को आप आत्मसात ही नहीं कर पायेंगे। वीतराग और वैष्णव हो जाने के बावजूद अपने युग के यथार्थ पर उनकी दृष्टि थी - अत: उनके विचार-संस्कार बाहर की दुनिया से टकरा रहे थे।

आप यह जरूर जानना चाहेंगे कि तुलसीदास के काव्य विकास की रूपरेखा क्या है? गोस्वामी जी के सृजनात्मक विकास के क्रम में ''वैराग्य संदीपनी'' के शांतिपद प्राप्त संत के रूप में आत्म-साक्षात्कार प्रस्थान बिंदु है, प्रौढ़ विकास का दूसरा पड़ाव राम-भक्ति में गहरी अनुरक्ति के फलस्वरूप ''रामचरितमानस'' है ; और तीसरा चरण है आत्मनिवेदन की व्याकुलता जिसकी परिणति ''विनय पत्रिका'', ''कवितावली'' और ''हनुमान बाहुक'' में होती है। पहले चरण में तुलसी बाह्य विश्व से अंत:क्रिया का समारंभ करते हैं। दूसरे चरण में वैष्णव आध्यात्मिकता और राम-भक्ति के माध्यम से अपने युग के पीड़ितों के एक नायक का अन्वेषण करते हैं जो लौकिक-अलौकिक दोनों हो; तीसरे चरण में पीड़ामय संसार के परिवेश में आत्मिक छटपटाहट और मोहभंग को पूरी तरह व्यक्त न कर पाने की अंतर्वेदना है।

आपने देखा कि तुलसी के रचना संसार के तीनों चरण बाह्य विश्व से अनुकूलित हैं। इसीलिए यह माना जाता है कि अपने युग और समाज के मुखर प्रवक्ता और प्रतिबिम्ब के रूप में भक्त कवियों के बीच तुलसी अद्वितीय हैं। उनके संपूर्ण काव्य कृतित्व में मानवतावादी नैतिकता (''परहित जैसा कोई पुण्य नहीं तथा परपीड़ा जैसा कोई पाप नहीं'') अंत:सलिला के रूप में प्रवहमान है। रचयिता की यह नैतिकता उनके काव्य विवेक के रूप में सर्वत्र विद्यमान है।

आप पूछेंगे कि उनके दृष्टिफलक के अंतर्गत कौन-कौन सी चीजें हैं? जाहिर है कि प्रकृति, संपूर्ण देश, सृष्टि निर्माण का रहस्य, देव मंडल, भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, ज्योतिष, तत्कालीन समाज की अवस्था अर्थात् अकाल, दरिद्रता, शोषण, कपट, अत्याचार, कृषक जीवन, तत्कालीन निरंकुश सामंती व्यवस्था, राजा-प्रजा संबंधों की वास्तविकता और आदर्श राज्य का स्वरूप, खेत-खलिहान, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-नाले, पर्वत, वन्य जीवन, कोल-किरात-भील, नैतिक मूल्य, पाप-पुण्य बोध, वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मण समाज, सज्जन-दुर्जन, छलकपट आदि न जाने कितनी चीजें उनके काव्य में समायी हुई हैं। राम कथा के विभिन्न पात्रों के चारित्रिक वैविध्य के अंकन द्वारा अपने दृष्टि क्षेत्र की व्यापकता और अपने ज्ञान प्रसार का तुलसी ने परिचय दिया है। सादृश्य विधान और प्रतीक चयन भी सर्वांगीण जीवन दृष्टि के परिचायक हैं। इसी के अंतर्गत अन्योक्तियाँ भी आती हैं। डॉ. रमेश शुक्ल मेघ ने तुलसी पर लिखित अपनी पुस्तकों में इनका व्यवस्थित अध्ययन किया है। जैसे कौओं को बड़े प्रेम से पालो पर क्या वे कभी मांस भक्षण छोड़ सकते हैं? मानसरोवर के जल में पली हुई हंसिनी कहीं खारे समुद्र में जी सकती है? कहीं पोखरे का क्षुद्र कछुआ भी मंदराचल उठा सकता है? संसार में जितने भी कामी और लोभी होते हैं वे कुटिल कौवे की तरह सबसे डरते हैं। राजा तड़पने लगे मानो मछली को माँजा व्याप गया हो। राजा के वचनों को कैकेयी टेढ़ा करके जान रही है जैसे ''चलइ जोंक जल वक्र गति, जदपि सलिल समान।'' नगर के लोग ऐसे व्याकुल हैं जैसे शहद छीन लिए जाने पर मधुमक्खियाँ। ऐसे न जाने कितने आलंकारिक वर्णन हैं जो मूलत: रचनाकार के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और व्यापक दृष्टिफलक का परिचय देते हैं।

14.5 तुलसी की काव्य कला

अभी तक आपने तुलसी के काव्य में आए मर्मस्पर्शी स्थलों, तुलसी काव्य में चित्रित जीवन और कविता के बारे में तुलसीदास के विचार से अवगत हो चुके हैं। अब हम तुलसी की भाषा और रूप विधान की चर्चा करने जा रहे हैं।

14.5.1 काव्य भाषा

तुलसी की सृजनशील काव्य कला की महानता को समझने के लिए सबसे पहले इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित करने की जरूरत है कि उन्होंने संस्कृत और फारसी की दरबारी काव्य परंपरा और लक्षण

HMDC-066

ग्रंथों को तिलांजलि देकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदयकाल की नवीन जातीयता के उन्नयन को ऐतिहासिक कार्यभार के रूप में स्वीकार किया। दरबारी रचनाकारों और अपने युग के पंडितों की पतनशील सांस्कृतिक धारा का अनुसरण न कर तुलसी अन्य भक्तिकालीन कवियों की तरह भाषा काव्य को समृद्ध करने का निर्णय करते हैं। अपने युग के जनसाधारण की सांस्कृतिक आकांक्षा और सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के दायित्व को एक चुनौती की तरह लेकर वे खुल्लम-खुल्ला नई धारा के सहयात्री बन गए। इस प्रश्न पर निर्णय में उनकी युक्ति भी गौर करने लायक है –

> **का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।**
> **काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाँच।।**

सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम नितप्रति व्यवहार की टकसाल में ढली हुई जनभाषा ही हो सकत है – ठीक वैसे ही जैसे शीतकाल में कंबल ही काम आता है, रेशमी वस्त्र नहीं। ''भाखा बहता नीर'' जैसी उक्ति के द्वारा कबीर ने संस्कृत के विरूद्ध जो तर्क दिया था, तुलसी उसी तर्क के आधार पर अपना भी निर्णय बतलाते हैं। भक्तिकालीन अन्य कवियों की तरह गोस्वामी जी को भी पंडितों के द्वारा किये जा रहे उपहास और व्यंग्य की चिंता नहीं थी।

मध्यकालीन सामंती समाज के सांस्कृतिक रूढ़िवाद और पतनशील मूल्य व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष का जो व्यापक आंदोलन मराठी, बंगला, उड़िया, असमिया समेत सभी जनभाषाओं में चल रहा था, तुलसीदास उसी आंदोलन के एक अंग थे। डॉ॰ राम विलास शर्मा मानते हैं कि इस आंदोलन ने सामंती बंधनों की जकड़बंदी के बरक्स भक्त कवियों के लिए **''व्यक्तित्व की सापेक्ष मुक्ति'** का द्वार उन्मुक्त कर दिया :

''सामंतवाद ने मनुष्य के व्यक्तित्व को अनेक बंधनों में जकड़कर उसके विकास को रोक दिया था। जाति (कास्ट), धर्म, सम्प्रदाय, सामाजिक आचार-विचार की शृंखलाओं में बंधकर मनुष्य का यह व्यक्तित्व स्वाधीन विकास के लिए तड़प उठता था। बिना इस व्यक्तित्व को स्वच्छंदता दिए हुए, बिना मुक्त आकाश में उड़ान भरे हुए काव्य में गेयता उत्पन्न नहीं हो सकती। ब्रजभाषा काव्य में जो अभूतपूर्व गेयता उत्पन्न हुई है, उसका सबसे बड़ा कारण इसी व्यक्तित्व की सापेक्ष मुक्ति है। सापेक्ष मुक्ति इसलिए कि सामाजिक बंधनों से यह पूर्ण मुक्त नहीं थी।" (भाषा, युगबोध और कविता, पृ. 48)

डॉ॰ रामविलास शर्मा का यह उद्धरण "मध्यकालीन हिंदी कविता में गेयता'' शीर्षक जिस निबंध से लिया गया है, उसी में आगे चलकर तुलसी काव्य की गेयता – चाहे वह अवधी में लिखित हो या ब्रजभाषा में – का उपयुक्त विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से हिंदी भाषी जनता द्वारा रामचरितमानस का गाया जाना – एक प्रबंध काव्य में गेयता के गुण उपलब्ध करना निश्चित रूप से तुलसी की महान उपलब्धि थी।

भाषा में लिखने के निर्णय से तुलसी को लोक-संस्कृति और जनसाधारण की दैनंदिन जीवनधारा में कलात्मक साधनों की अक्षय निधि प्राप्त हो गई। भारत के विभिन्न जनपदों में प्रचलित लोक-संस्कृति के विभिन्न रूपों, संस्कार गीतों, पर्व-त्योहार और विभिन्न ऋतुओं के लोक गीतों से गोस्वामी जी को वे छंद प्राप्त हुए जो अपभ्रंश काव्यों में भी व्यवहृत होकर निखर चुके थे। उपमान, रूपक, प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे, लोकोक्ति तथा दृष्टान्त भी इसी लोक-संस्कृति और ठेठ ग्रामीण जीवन से लिए गए हैं।

शब्द-चयन पर भी तुलसी की दृष्टि सांस्कृतिक संकीर्णतावाद से मुक्त थी। इस प्रसंग में प्रोफेसर लल्लन राय ने बताया है – **''भाषा के संबंध में तुलसी की एक अन्य विशेषता है, मुक्त रूप से दूसरी बोलियों और भाषाओं से शब्द ग्रहण। इसमें ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी तथा कुछ नितान्त स्थानीय शब्दों के साथ अरबी और फारसी भाषा के शब्द भी आ जाते हैं। तुलसी ने अपनी रचनाओं में इतने अधिक अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है, जितना शायद हिंदी के किसी भी पुराने या आधुनिक कवि ने नहीं किया।" (तुलसी की साहित्य साधना, पृ. 144)**

HMDC-066

भारतीय वाङ्‌मय और विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों से शब्द-चयन की उन्मुक्तता के कारण ही प्रसंगानुकूल भाषा शैली की विविधता विकसित करने में तुलसी अद्वितीय हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का ध्यान गोस्वामी जी की इस विशेषता की ओर गया था। उनकी टिप्पणी है - **''गोस्वामी जी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी और मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है।''** (हि.सा.इ., पृ. 131)

अपने उद्‌भव काल से ही कविता मुख्यत: श्रव्य विद्या है। भक्तिकालीन कवियों के काल में भी यह मुख्यत: श्रव्य विद्या ही थी। इसीलिए महान कलाकार की काव्य कला की कसौटी के अंतर्गत इस बात की माँग होती थी कि रचनाकार भाषा के ध्वनि प्रवाह और गति को पहचाने। रचना की श्रव्यता के लिए यह आवश्यक माना जाता है। इस कसौटी पर खरा उतरने वाला काव्य जन-जन का कंठहार बन जाता है और सदियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोकस्मृति में अक्षुण्ण पड़ा रहता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी गोस्वामी जी के काव्य की इस विशेषता का विवेचन करते हुए कहते हैं - **''तुलसी की पंक्तियाँ लोगों को बहुत याद हैं। वे उत्तरी भारत के गाँवों, पुरखों, खेतों, खलिहानों, चरागाहों, चौपालों में दूब, जल, धूल, फसल की भाँति बिखरी हैं - इसे कहना अनावश्यक है। अवश्य ही इसका कारण उन पंक्तियों की संदर्भवत्ता और मार्मिकता है, लेकिन इसमें तुलसी की पंक्तियों के ध्वनि प्रवाह का भी बहुत योगदान है। तुलसी की पंक्तियों में वह रपटन और फिसलन है कि उनका एक शब्द याद पड़ जाए तो पूरी पंक्ति अपने आप ही स्मृति में उदित हो आती है। इसका कारण है पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों की ध्वनिमैत्री।''** (लोकवादी तुलसीदास, पृ. 139)

आगे के विवेचन में डॉ. त्रिपाठी उल्लिखित ध्वनिमैत्री के लिए अपनाए गए कौशलों का सोदाहरण विवेचन करते हैं। इन कौशलों के अंतर्गत ही ह्रस्व स्वरान्त पद प्रयोग और वर्णानुप्रास की छटा तुलसी की उल्लेखनीय विशेषता है। अनुप्रासों में खास तौर पर आनुनासिक ध्वनियों के आरोह-अवरोह गौर करने लायक है। उदाहरण के लिए "नील सरोरूह स्याम तरून अरून बारिज नयन'' अथवा "किंकिणि नूपुर धुनि सुनि'', "तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन चातक से'' अथवा "उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग'' आदि से संबंधित पदों के ध्वनि सौंदर्य और तदनुसारी भाव सौंदर्य को देखा जा सकता है।

14.5.2 छंद और संगीत

मध्ययुग में मुक्त छंद का प्रचलन आरंभ नहीं हुआ था। कविता छंदोबद्ध होती थी। तुलसी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवधी और ब्रजभाषा के काव्यग्रंथों में प्रयुक्त छंदों के अच्छे जानकार थे। इसीलिए अपनी काव्यकृतियों में उन्होंने अभिप्रेत विषय-वस्तु और भाव के अनुसार विविध प्रकार के छंदों का उपयोग किया है। "छंद प्रबंध अनेक बिधाना''जैसी उक्ति के द्वारा छंदों के भेद और प्रकार के प्रति उन्होंने अपनी सजगता का संकेत भी दिया है। उनके साहित्यिक जीवनवृत्त और सृजन-प्रक्रिया के कम विकास से ऐसा प्रतीत होता है कि "रामचरितमानस'' की रचना से पहले एक ओर जहाँ अवधी के लोकगीतों में प्रचलित सोहर छंद का उपयोग कर वे "रामलला नहछू'' और "जानकी मंगल'' की रचना कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर अपभ्रंश काव्य परंपरा के जातीय छंद दोहा और चौपाई में "रामाज्ञा प्रश्न'' और "वैराग्य संदीपनी'' की भी रचना कर रहे थे। इन प्रयोगों से पता चलता है कि भाखा-काव्य के लिए अपेक्षित अंत:संगीत के अन्वेषण द्वारा वे अपने कौशल परिष्कृत कर रहे थे। जीवन की प्रौढ़ावस्था में ही "रामचरितमानस'' की रचना में वे अपने को समर्थ और सक्षम समझकर जुटे। संस्कृत से अवधी-ब्रज तक की काव्य संपदा के अनुशीलन से प्राप्त रचना विधियों और छंद कौशल का प्रमाण प्रस्तुत करने की दृष्टि से गोस्वामी जी के लिए यह जबर्दस्त चुनौती और आत्मपरीक्षा की अवधि थी। संस्कृत में भी वे काव्य सृजन कर सकते हैं और संस्कृत के वर्णिक तथा मात्रिक छंदों का साधिकार उपयोग कर सकते हैं। काशी के पंडितों को यह दिखलाना आवश्यक था। भाखा काव्य के प्रति "खल उपहास'' के बौद्धिक परिवेश से वे परिचित थे। वाल्मीकि, व्यास से लेकर भवभूति तक द्वारा उपयोग में लाए गए संस्कृत छंदों में वे अपनी रचनात्मक प्रतिभा के प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं, इसे सोदाहरण प्रस्तुत कर वे पंडित समाज में अपनी स्वीकृति चाहते थे ताकि यह बता सकें कि भाषा-काव्य किसी अज्ञानी गँवार की रचना नहीं है। इसीलिए संस्कृत श्लोकों, में अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, त्रोटक, भुजंग प्रयात

HMDC-066

वृत्त, मालिनी वृत्त, वसंततलतिका वृत्त, शार्दूल विक्रीड़ित वृत्त, वंशस्थ विलय वृत्त, स्रग्धरा छंद और नागर स्वरूपिणी वृत्त के उपयोग से गोस्वामी की रचनात्मक प्रतिभा के निखरे स्वरूप का दिग्दर्शन संभव हुआ।

रामचरितमानस के संस्कृत श्लोकों को छोड़कर शेष संपूर्ण महाकाव्य में दोहा-चौपाई और सोरठा में ही रचना की गई है, यद्यपि भावधारा और प्रसंग के अनुसार लय-गति-ताल का अनुसरण करते हुए हरिगीतिका, तोमर, अरिल्ल, त्रिभगी आदि छंदों के उपयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कार्य या घटना की पूर्णता पर कथाविन्यास में कड़ियाँ मिलाने के लिए मंथर गति से चलने वाले छंद के प्रयोगों मे नई उद्भावनाओं के प्रमाण भी मिलते हैं। चरितकाव्यों की परंपरा में परखी जा चुकी कड़वक योजना का प्रभाव रामचरितमानस पर पर्याप्त रूप में परिलक्षित होता है। चरितकाव्यों पर शोध करने वाले डॉ. दीनानाथ शुक्ल की टिप्पणी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है - **"मानस में भी हमें संस्कृत काव्यों की सर्गनिबद्धता का नहीं प्रत्युत् कड़वक योजना का ही प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। इन कड़वकों में उपलब्ध होने वाली अर्द्धालियों की संख्या के लिए कोई निश्चित नियम न तो अपभ्रंश के महाकाव्यों में ही पाया जाता है और न रामचरितमानस में ही। "पउमचरिउ" की बारहवीं संधि में ही हमें कहीं आठ अर्द्धालियों का कड़वक दिखाई देता है, तो कहीं नौ का। मानस में भी आठ अर्द्धालियों से लेकर सोलह तक के कड़वक देखने को मिलते हैं।"** - (चरित काव्य की परंपरा और रामचरितमानस, पृ. 286)

गोस्वामी जी की अन्य प्रमुख कृतियों में "कवितावली" और "हनुमान बाहुक" के प्रिय छंद कवित्त और सवैया है। "रामाज्ञा प्रश्न" और "दोहावली" में दोहा छंद, "पार्वती मंगल" और "जानकी मंगल" में मंगल, सोहर और हरिगीतिका छंद का उपयोग दिखाई देता है। "विनय पत्रिका", "गीतावली" और "कृष्ण गीतावली" में प्रगीत और मुक्तक के रचनातंत्र का प्रयोग है। पद शैली में रचित ये प्रगीत और मुक्तक कल्याण, गौरी, असावरी, भैरवी, केदारी घनाश्री, मल्हार, रामकली, टोड़ी, मारु, बिलावल आदि राग-रागनियों में निबद्ध हैं। स्वामी हरिदास की संगीत परंपरा से रस-सिक्त गायन शैली का लाभ उठाते हुए और ब्रजभाषा की मँजी हुई प्रगीतात्मकता का निखार प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने संगीत के प्रति भी अपनी गहरी अभिरुचि और रागमयता का परिचय दिया है।

तानसेन, बैजू, स्वामी हरिदास, लाल खाँ आदि के द्वारा भारतीय संगीत परंपरा का परिष्कार हुआ, उसे नया रूप मिला। हिन्दुस्तानी संगीत की इस लोकाश्रित जातीय परंपरा के विकास में हिन्दू-मुस्लिम संगीतकार योग दे रहे थे। बारहवीं-तेरहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक संतों, सूफियों और भक्तों के पदों की गायन परंपरा पर संगीत के राग और ताल की गहरी छाप है। यह मूलतः लोकसंगीत है जिसे कभी-कभी मुगल दाबार में या हिंदू-मुस्लिम रियासतों में भी आश्रय प्राप्त हो जाता था। आचार्य शुक्ल सूरदास के प्रसंग में पहले से चली आ रही जिस गीत परंपरा का उल्लेख करते हैं, वह वस्तुतः सिर्फ ब्रजभाषा में ही नहीं है, मैथिली, अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी, मराठी, बंगला, आदि में भी है और इस गीत परंपरा का जातीय लोकसंगीत के रूप में अलग-अलग प्रसार हो रहा था। रामविलास शर्मा का अनुमान है **"संतों के पद लोकगीतों का विकास है। दक्षिण की शास्त्रीय पद्धति के गायक त्यागराज और पुरंदरदास के पद गाते हैं, उत्तर की शास्त्रीय पद्धति के गायक सूर, तुलसी और मीरा के पद गाते हैं। यही नहीं, कुछ गायिकाएँ शास्त्रीय गायन का समापन कजरी या किसी अन्य संगीत से करती हैं और वादक भी अपने शास्त्रीय वादन का समापन कभी किसी लोकधुन से करते हैं। इस तरह वे उस आदि स्रोत को याद कर लेते हैं जिसने संतों के गायन और शास्त्रीय गायन दोनों को जन्म दिया था।"** (भारतीय साहित्य की भूमिका, पृ. 190)

तुलसी की सभी कृतियों में कथागायन का लोकरूप, डॉ. रमेश कुंतल मेघ के विश्लेषण के अनुसार चित्रकूट के परिवेश से ही आया है। उनके अनुसार **"चूँकि चित्रकूट राम की उपासना में वृंदावन की तरह है, अतः कीर्तनियों की भिन्न-भिन्न मंडलियों द्वारा राम के भजन और राम के लीलागान की परंपरा आज तक चली आ रही है। कहना न होगा कि गोस्वामी जी के जीवन के इस वृत्त में चित्रकूट के संपर्क ने तुलसी के सृजनकार्य तथा कवित्स को गढ़ा है।"** (तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ. 154)

14.5.3 काव्य का रूप विधान

तुलसी ने मध्यकाल में प्रचलित काव्य सृष्टि के तीनों रूप विधानों - प्रबंध, मुक्तक और प्रगीत को अपनाया। कथा वर्णन की परिपाटी में अपना काव्य लेखन आरंभ करने के पहले गोस्वामी जी फुटकर मुक्तक और पदावली में उपलब्ध संत काव्य की परंपरा की ओर आकृष्ट हुए थे। रत्नावली से दुत्कारे जाने के बाद जब उन्हें लौकिक-पारिवारिक गृहस्थ जीवन से विरक्ति हुई तो संतों की वैराग्य-प्रधान रचनाओं में ही उन्हें आत्माभिव्यक्ति दिखाई पड़ी। ऐसा माना जाता है कि ''वैराग्य संदीपनी'' के पद निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना, जीवन की क्षण-भंगुरता और इंद्रियार्थ निषेध से भरे पड़े हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि तुलसीदास पश्चिमी ब्रजभाषा में अपनी रचना आरंभ करते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद लिया जा सकता है, जो ''वैराग्य संदीपनी'' से उद्धृत तीसरा पद माना जाता है-

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत।
बास नासिक बिनु लहै परसै बिना निकेत।।

अपनी इस प्रारंभिक रचना में भी वे हरिकथा और रामकथा के अंतर्गत ही इन पदों की रचना कर रहे थे। ''वैराग्य संदीपनी'' के पद 38 और 40 में आयी निम्नांकित उक्तियाँ ध्यान देने लायक हैं-

(1) तुलसी भगत सुपच भलौ भजै रैन दिन राम।
ऊंचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम।।

(2) जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तदपि समता के न कुलीना।।

सुपच (श्वपच, चांडाल) और कुलीन में तथा साधु और कुलीन में तुलसी चांडाल और साधु को ऊंचा स्थान देते हैं। तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ पंडित राम नरेश त्रिपाठी की दृष्टि में **''तुलसीदास की सबसे पहली रचना ''वैराग्य संदीपनी'' जान पड़ती है। यह उस समय की रचना है जब तुलसीदास का झुकाव संतमत की तरफ रहा होगा। संतमत का प्रचार उन दिनों जोरों पर था।'' (तुलसीदास और उनका काव्य, पृ. 223)**

''वैराग्य संदीपनी'' के दोहे और कबीर की साखियों में काफी साम्य दिखाई देता है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए यह कहते हैं कि **''इसकी शैली और विचारधारा तुलसीदास की ज्ञात रचनाओं से भिन्न है।'' (हिंदी साहित्य कोश, खंड 2, पृ. 553)** निष्कर्ष यह कि स्वतंत्र मुक्तक रचनाविधिका रूपबंध प्रारंभ में ही गोस्वामी जी को अपनी प्रतिभा के संचरण के लिहाज से उपयुक्त प्रतीत हुआ। विभिन्न छंदों में मुक्तक रचना की इस प्रणाली का उपयोग उनके संपूर्ण कृतित्व में प्रारंभ से अंत तक दिखाई पड़ता है - ''वैराग्य संदीपनी'' से लेकर ''कवितावली'' और ''हनुमान बाहुक'' तक में।

''रामलला नहछू'', ''जानकी मंगल'', ''पार्वती मंगल'' आदि में राम कथा के कुछ घटना प्रसंगों को वर्णन की आधारभूत सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कहना चाहिए कि मुक्तक और आख्यान के मिश्रित रूपबंध में प्रस्तुत इन काव्य-कृतियों में युवा रचनाकार की प्रयोगशीलता बरबस संत काव्य परंपरा से भिन्न नये आस्वाद का परिचय देती है। राम के यज्ञोपवीत और विवाह संस्कार के कथासंदर्भ में गाये जाने वाले मंगल-गीतों के रूप में इन काव्य-कृतियों की रचना की गई है। ''रामलला नहछू'' में लोहारिन, अहीरिन, तंबोलिन, दरजिन, मोचिन, मालिन आदि का रूपचित्रण किया गया है। नाइन निछावर माँग रही है, हठ और झगड़ा कर रही है। संपूर्ण वस्तुविधान अवध, भोजपुर क्षेत्र और मिथिला के लोकरिवाजों को सामने लाता है और इसके लिए लोकगीतों की सहज-सरल रोचक शैली अपनायी गयी है। कथावस्तु की दृष्टि से भिन्नता यह है कि दशरथ ग्रामीण स्त्रियों, खासकर, निम्न कुल की स्त्रियों के रूपयौवन पर मुग्ध और आसक्त दिखाए गए हैं। मर्यादावादी तुलसी उत्तान शृंगार का ऐसा वर्णन करें, और वह भी अपने उपास्यदेव के परमपूज्य पिताश्री के चरित्र का स्खलन दिखाते हुए - यह सर्वथा अविश्वसनीय मान लिया गया और इसी के आधार पर अनेक विद्वानों ने ''रामलला नहछू'' को

IMDC-066

प्रामाणिक कृति मानने से इन्कार कर दिया। अद्यतन शोधकार्यों के आधार पर अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि यह गोस्वामी जी की ही कृति है। दरअस्ल ये तीनों कृतियाँ अवधी में लिखी गई हैं और इन पर लोक संस्कृति की गहरी छाप है। राम के प्रति तुलसी की अनन्य भक्ति की विकास प्रकिया में तथा एक समर्थ रचनाकार की संभावनाशील यथार्थ दृष्टि के स्वरूप ग्रहण की प्रक्रिया में दशरथ का ऐसा चित्रण ''रामचरितमानस'' से पहले का एक पड़ाव प्रतीत होता है। मुक्तक और आख्यान की घुली-मिली वर्णन शैली में नाटकीय त्वरा और गति संबंधी ये ऐसे प्रयोग हैं जो ग्रामीण लोक जीवन के प्रेक्षण पर आधारित हैं। ''जानकी मंगल'' में निबद्ध कथा यह बताती है कि अब गोस्वामी जी ''रामचरितमानस'' की रचना के लिए आवश्यक तैयारी पूरी कर चुके हैं।

''रामचरितमानस'' के रूप विधान, प्रबंधत्व और महाकाव्यत्व पर चर्चा इस टिप्पणी के अंत में की जाएगी। इस बीच यह देखना आवश्यक है कि मानस के बाद लिखित रचनाओं में ''पार्वती मंगल'' का रूप विधान क्या है? यह एक प्रबंधकाव्य है। इसे हम खंडकाव्य या कथा प्रबंध की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें शिव-पार्वती विवाह का आख्यान है। माता प्रसाद गुप्त इसे खंड काव्य मानते हैं।

प्रबंध काव्य के लिए अपेक्षित दर्णनात्मकता की काव्य प्रतिभा का अब पूर्ण प्रस्फुटन हो चुका है। अत: ''रामचरितमानस'' में वर्णित शिव-पार्वती विवाह के घटना-संयोजनों में गोस्वामी जी एक भिन्नता लाते हैं। जाहिर है कि मानस में यह आख्यान शिवपुराण पर आधारित है, जबकि पार्वती मंगल में कालिदास के "कुमारसंभव" में उपलब्ध कथा-विन्यास का उपयोग किया गया है। मानस में तो जब राम बीच में पड़ते हैं, तभी पार्वती से विवाह के लिए शिव राजी होते हैं, जबकि पार्वती मंगल में राम बीच में नहीं पड़ते। पार्वती की तपस्या से शिव स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं और बटु रूप में जाकर पार्वती की परीक्षा लेते हैं। मानस में सप्तर्षि और पार्वती के बीच संवाद की योजना करायी गयी है, जबकि पार्वती मंगल में बटु और पार्वती के बीच। सोहर और हरिगीतिका छंदों में इसकी रचना की गई है।

कथा प्रबंध में कमश: सफलता पाते जाने की प्रक्रिया में गोस्वामी जी ''बरवै रामायण'' नाम से 69 स्फुट पदों के संग्रह द्वारा ''कवितावली'' की ही तरह सात कांडों में कथा का विभाजन करते है। बरवै अवधी का प्रिय छंद है। इसकी गति और क्षिप्रता पर तुलसीदास की महारत देखने लायक है। रूप विधान की दृष्टि से कुछ आलोचक इसे मुक्तक रचना-संग्रह भी मानते हैं और कुछ इसे खंडकाव्य बताते हैं। वस्तुत: ''बरवै रामाण'' ''रामचरितमानस'' का ही लघु गुटका संस्करण है, यद्यपि भाषा और छंद की दृष्टि से इस रचना की अपनी विशिष्टताएं हैं। अपने मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना की प्रेरणा से तुलसी ने बरवै छंद में रामकथा को संक्षेप में प्रस्तुत करने के दायित्व को कलात्मक चुनौती के साथ स्वीकार किया था। माना जाता है कि 1612 ई. में इसकी रचना हुई थी अर्थात् मानस की रचना के काफी बाद।

उल्लेखनीय कृतियों में अब ''गीतावली'' और ''विनय पत्रिका'' पर विचार करना आवश्यक है। ये दोनों ही कृतियाँ आत्मनिवेदन से लबालब गेय पद हैं। इनका रचनातंत्र भक्तिकाल के प्रारंभिक दौर की रचनाशीलता से अनुशासित है और तत्कालीन उत्तरी भारत के जनपदों में प्रचलित लोकसंगीत की टकसाल में ढल कर इसका पदविन्यास निखर उठा है।

14.5.4 रामचरितमानस का रूप विधान

''रामचरितमानस'' अपनी प्रबंधात्मकता और आख्यान के रूप विधान की दृष्टि से महाकाव्य के रूप में लगभग सर्वस्वीकृत है, यद्यपि अनेक विद्वानों ने इसे पुराण काव्य भी कहा है। तुलसी ने इस रचना का रूपबंध ऐसा बनाया है कि हिंदी भाषी क्षेत्र के प्राय: सभी जनपदों में यह गाया जाता है और गाकर सुनाया जाता है। इस महाकाव्य के श्रोता और इसके आधार पर होने वाली रामलीलाओं के दर्शक श्रद्धा के विवश होकर पौराणिक कथा में प्रयुक्त चमत्कारों के प्रति अपने अविश्वास को स्थगित कर देते हैं, चूंकि तुलसी ने अपने नायक में ही अलौकिकता और सर्वशक्तिमानता की प्रतिष्ठा कर दी है। गोस्वामी जी के इस चरितनायक का लौकिक-सामाजिक जीवन प्रसंग इतना विराट है कि ताड़का, वाल्मीकि, अहिल्या, केवट, निषाद, जटायु, सम्पाती, सुमंत्र आदि सब के सब कथानक के फलक पर सर्वशक्तिमान और अलौकिक के सहज मानवीय व्यापार में शामिल हो जाते हैं। वस्तुत: ये सभी किसी न किसी

HMDC-066

प्रासंगिक कथानक के अनिवार्य अंग हैं। आधिकारिक और प्रासंगिक कथानकों के बीच आख्यान और इतिवृत्त जैसा संबंध है। इस संबंध को दिखाने के लिए अनेक स्थलों पर काल भी एक ही रखा गया है। कथानकों के बीच संबंधों से घटनाओं में जो मोड़ आता है अर्थात् आकस्मिकता आती है उसे दैव विधान और प्रारब्ध की तार्किकता से विश्वसनीय तथा कुतूहलवर्द्धक बनाया गया है। चित्रपटल के ऐसे आकस्मिक परिवर्तनों के लिए प्रारंभ से अंत तक जिन युक्तियों का आश्रय लिखा गया है उनमें शंका और समाधान की प्रश्नोत्तर शैली, अवतारी महापुरुष का अतिप्राकृतिक दिव्य शक्ति का प्रदर्शन तथा कुछ पात्रों के पूर्वजन्म की कथा का वाचन आदि कौशल द्रष्टव्य है। बालकांड में बतौर पृष्ठभूमि शिवचरित, नारद शाप, मनु-शतरूपा, प्रतापभानु-कपटी मुनि, जलंधर-वृन्दा, रावण चरित आदि प्रासंगिक कथा इकाइयों के नियोजन में पुराणों की आख्यान शैली का अनुसरण है। इसी तरह रामचरितमानस के अन्य सर्गों में सम्पति, लंकिनी, राक्षसी, काक्भुशंडि आदि के निजी आत्मवृत्त भी मिथकीय कोटि के ही हैं। गोस्वामी जी ने कथाविन्यास की इस संरचना के लिए पुराणों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, कुमारसंभव तथा पउमचरिउ जैसी चरितकाव्य परंपरा में लिखित रामायणों के प्रबंध कौशल को फेरबदल कर दोहराया है। डॉ. रमेश कुंतल मेघ मानते हैं कि "इनमें निःसंदेह प्रबंध सौष्ठव विफल हुआ है।" (तुलसीदास : आधुनिक वातायन से, पृ. 193)

आधिकारिक कथा के घटनाविकास के अंतर्गत वर्णित अनेक घटनाएं परवर्ती कथावाचन के बीच लगभग पूरी की पूरी दोहरायी जाती हैं, केवल सूच्य बनकर नहीं आतीं। ऐसी आवृत्ति के द्वारा कालविपर्यय होता है, अर्थात् वर्तमान के बीच विगत् आ खड़ा होता है बल्कि वर्तमान को धुंधला कर देता है। उदाहरण के लिए - दशरथ की सभा में दूत द्वारा धनुर्भंग की पूरी घटना की इतिवृत्तात्मक आवृत्ति, मारीच द्वारा रावण को दी गई सूचना के अंतर्गत विश्वमित्र के साथ राम के प्रस्थान का प्रसंग, विवाह के बाद लौटे राम से ताड़का वध की कथा का माताओं द्वारा श्रवण। शिव पार्वती विवाह, रति को दिये गये वरदान, शिव द्वारा पार्वती को सुनायी गयी रामकथा की काक्भुशुंडि द्वारा गरूड़ को सुनायी गयी कथा में आवृत्ति - कथा विन्यास की तकनीक में ऐसे अनेक स्खलन हैं जो रामचरितमानस के महाकाव्यात्मक प्रभाव को बाधित करते हैं और सौंदर्यात्मक संवेग की त्वरा को कुंठित करते हैं। कथा की जीवंतता, सुश्रृंखलन और व्यवस्थापन के मार्ग में अनेक स्थलों पर स्तुतिपरक, उपदेशात्मक और ब्रह्मचिंतन के तात्विक प्रसंग आते हैं कि उनसे कथा प्रवाह बार-बार खंडित होकर शिथिल पड़ जाता है। ऋषियों, मुनियों और भक्तों से जब भी राम की भेंट होती है तो गोस्वामी जी अटक-भटक कर कथा की गति में अनावश्यक व्यतिक्रम कर देते हैं। वनगमन के समय राम और वाल्मीकि संवाद ऐसे ही व्यतिक्रम के अनेक उदाहरणों में से एक है।

मानस के सात सोपानों तथा चार घाटों की व्याख्या से तुलसी साहित्य संबंधी समालोचना और शोधकृतियाँ भरी पड़ी हैं। मानस को धर्मग्रंथ या भक्ति सरोवर के रूप में प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। "मानस में रामकथा" नामक अपनी समालोचनात्मक कृति के माध्यम से पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र ने भी इस प्रकार की विवेचन पद्धति को गंभीर ज्ञानचर्चा का रूप दे दिया। विद्वानों के बीच इस प्रसंग को लेकर इतनी प्रतिद्वंद्विता बढ़ी कि डॉ. उदयभानु सिंह मानस के सोपान की व्याख्या और कथा संरचना के प्रश्नों के बीच घालमेल करते हैं। उनके अनुसार ये सात सोपान रामभक्ति के सात पंथ हैं और **"मानस भक्तिजल से लबालब भरा है। पहले ही सोपान के आरंभ से भक्तिरस मिलने लगता है। पाठक ज्यों-ज्यों गहराई में उतरता जाता है त्यों-त्यों भक्तिजल में प्रवेश करता जाता है और सातवें सोपान पर पहुँचकर वह भक्तिरस में पूर्णतः मग्न हो जाता है।" (रामचरितमानस, संपादक सुधाकर पांडेय, पृ. 153)**। यद्यपि अच्छी बात यह है कि काक्भुशुंडि संवाद को उपासना घाट, शिव पार्वती संवाद को ज्ञानघाट-राजघाट, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद को कर्मघाट-पंचायती घाट और तुलसी-संत संवाद को प्रपत्तिघाट-गायघाट के रूप में देखने-दिखाने वाली विवेचना पद्धति से डॉ. उदयभानु ने अपनी असहमति जताते हुए इसकी व्यर्थता बतायी है। पर कथा प्रवचन परंपरा के अद्यतन आचार्य पंडित रामकिंकर उपाध्याय इन चार संवादों और मानस के चार घाटों की आध्यात्मिक और भक्तिरसमय व्याख्या से अभी भी जनसाधारण को चमत्कृत करते हैं। उनका निष्कर्ष है **"रामचरितमानस के राम ज्ञानियों के परब्रह्म परमात्मा हैं। भक्तों के सगुण साकार ईश्वर हैं। कर्ममार्ग के अनुयायियों के लिए महान मार्गदर्शक और दीनों के लिए दीनबंधु हैं। चार**

NMDC-066

घाटों के माध्यम से रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने सारे समाज के व्यक्तियों को आमंत्रण दिया कि वे श्रीराम के चरित्र से अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लें।" (मानसमुक्तावली, खंड 1, पृ. 167)

रामचरितमानस की कला संरचना में चार वक्ता और चार श्रोता के अलग-अलग स्थान, उनकी अलग-अलग प्रकार की लौकिक-सामाजिक अस्मिता तथा इनकी पृथक-पृथक कथाओं में अंतर्भूत उपादानों की परस्पर भिन्नता के आधार पर कलात्मक और सौंदर्यपरक व्याख्या प्राय: नहीं हुई है। इस व्याख्या पर धार्मिक और आध्यात्मिक रंग चढ़ाने में कथावाचकों का जितना योगदान है, उससे कहीं अधिक साहित्य के विद्वानों का ही योगदान है।

तथ्य की दृष्टि से यह सर्वविदित है कि अध्यात्म रामायण, काकभुशुंडि रामायण आदि से तुलसी ने शिव पार्वती और काक गरूड़ संवाद की पद्धति अपनायी है। पर इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण उस कलात्मक आवश्यकता का विवेचन हमारे विद्वान समालोचकगण भूल गए जिसके निर्णायक दबाव में उनकी संपूर्ण रचनाशीलता अनुशासित-अनुकूलित हो रही थी। तत्कालीन जनसमाज और सहृदय समुदाय की ऐतिहासिक पुनर्रचना कर यदि हम सोचें तो पता चलेगा कि गोस्वामी जी साक्षर समुदाय के लिए किसी साहित्यिक पाठ की रचना न कर, निरक्षर जनसाधारण को गाकर सुनायी जाने वाली कथाकृति या कथाप्रबंध की रचना कर रहे थे। रामचरितमानस की हस्तलिखित पोथियों से रामकथा काव्य का थोड़ा-बहुत प्रसार सिर्फ शिक्षित-कुलीन समाज में हो रहा होगा। पर एक कृतिकार के नाते गोस्वामी जी अपने कथाप्रबंध, गाथा या गाहा का पाठ कथा प्रवचन, लोक गायन और लीला गान सुनने वाले सहृदय श्रोता समाज के लिए तैयार कर रहे थे। नाटक-नृत्य-संगीत की समवेत विधा के रूप में अगर रामलीला तुलसी से पहले किसी भी रूप में अयोध्या और चित्रकूट में रही होगी तो तुलसी की रचनाशीलता पर जिस प्रकार की छाप पड़ी होगी, उसकी कल्पना की जा सकती है।

इस पृष्ठभूमि में रामचरितमानस के लोकरंजनकारी वाचिक पाठ के रूप विधान पर विचार न करना और सिर्फ लिखित पाठ के साहित्यिक कलेवर के रचनातंत्र पर विचार करना अपर्याप्त प्रतीत होता है। इन दोनों पक्षों पर गौर करने से ही यह पता चलता है कि हर सर्ग के नामकरण में कांड क्यों आया है। एक महागाथा के अलग-अलग कांड सीरियलों की धारावाहिकता और परस्पर पृथक घटनागाथा जैसे प्रतीत होते हैं। संस्कृत और अपभ्रंश की प्रबंधकाव्य परंपरा के अनुसार सर्गों का विधान जहाँ लिखित पाठ का वैशिष्ट्य है, वहीं विभिन्न वाचिक आख्यान के सूचक हैं।

मध्यकाल के हिंदी भाषी क्षेत्र में संतों की गायी जाने वाली बानियाँ और पदावलियाँ, कृष्ण-भक्तों की रासलीला और राम-भक्तों की रामलीला विभिन्न जनपदों के सांस्कृतिक जीवन स्पंदन की ठोस अभिव्यक्तियाँ हैं। उस युग का कोई भी रचनाकार इनसे कटकर या अप्रभावित रहकर जीवंत रचना कर ही नहीं सकता था। उस युग के किसान-विद्रोहों और धार्मिक-आध्यात्मिक रंगत लिए सांस्कृतिक क्रियाकलापों के बीच के अर्थपूर्ण संबंधों की वैज्ञानिक व्याख्या से ही यह समझ में आता है कि नृत्य, गायन, कविता में यथार्थ की उत्पीड़नकारी दुनिया को क्यों खारिज किया जा रहा था - वास्तविक संसार के बीच निरूपायता कलात्मक दुनिया में मनोवांछित क्रीड़ा के दृश्यरूपकों की निर्मितियाँ प्रस्तुत कर रही थी' - कभी वीतराग होकर, कभी आनन्ददायी लीला के नृत्य में तल्लीन होकर, कभी पराक्रमी नायक की प्रतिष्ठा के गीत गाकर। यह मनचाही क्रीड़ा अनुभूतियों का एक साझा तानाबाना प्रदान करती थी, अपने साथियों से साहचर्य और हिस्सेदारी के लिए अपेक्षित समान संवेदनाओं का यह भावजगत लोकख्यात नायक के अतिप्राकृतिक चमत्कारों के कारण जनजन के हृदयकुंज में आशा का प्रदीप जलाकर जगमगा उठता था। मध्यकाल के निरंकुश सामंती शासन, मनसबदारी-जागीरदारी व्यवस्था और भूराजस्व के नये रूपों के विरुद्ध थे। किसान-विद्रोहों में संघर्ष के कारगर औजार के रूप में उत्पीड़ितों के पारस्परिक साहचर्य की यह आवश्यकता गीत, गायन, कविता, नाटक, लीला आदि को भी अपने रंगों में ढाल रही थी। भक्ति के प्रतीक-रूपकों से आवृत्त इस भावधारा की परस्पर-विरोधी गूंज-अनुगूंज को नये सिरे से समझने की आवश्यकता है। दरअसल दु:ख दैन्य से मुक्ति दिलाने वाले अपने युग के नायक की खोज तुलसीदास को जनमन में बसे लोकख्यात वृत्त की ओर ले जाती है। एक सृजनशील कृतिकार के नाते अपने चरितनायक को जिस विचारभूमि पर वे प्रतिष्ठित करते हैं, उससे उनकी वैचारिक सीमा और असंगतियों के साथ-साथ उनकी महान कलात्मक प्रतिभा और गहरी संवेदनशीलता का भी परिचय

HMDC-066

मिलता है। "रामचरितमानस'' इस दृष्टि से गोस्वामी जी की प्रतिनिधि रचना है। हिंदी भाषी जनता को यह जातीय महाकाव्य जनजन का कंठहार क्यों बना हुआ है? इसके काव्यरूप और प्रबंधत्व की कलात्मक विशेषताएं क्या हैं? इन प्रश्नों पर काव्यशास्त्रीय मानदंडों के अनुसार विद्वान आलोचकों ने बहुत विस्तार से विचार किया है और सभी इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि लोकख्यात वृत्त, सर्गबद्ध कथा, धीरोदात्त नायक की प्रतिष्ठा, विराट जीवन संदर्भ, लोकमंगल के आदर्श, अन्याय पर न्याय की विजय, रस व्यंजना में वैविध्य, सहज-सुगम भाषा शैली, कथा विन्यास में आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक-पताका-प्रकरी कथाओं के कलात्मक संग्रथन, मार्मिक स्थलों की पहचान, विभावन व्यापार में दृश्यात्मकता, प्रभावोत्पादक सादृश्य योजना, अलंकार विधान में अनुभवगम्य विस्तार, नैतिक आदर्शों के संदेह आदि के सफल कलात्मक संयोजन के कारण रामचरितमानस एक अद्वितीय महाकाव्यात्मक कृति है।

14.6 सारांश

इस इकाई में आपने एक कवि के रूप में तुलसीदास की विशेषताओं और सीमाओं की जानकारी प्राप्त की। तुलसी एक बड़े कवि हैं। उनके विचारों से असहमत हुआ जा सकता है परंतु उन्होंने अपनी कविता में जीवन के प्रसंगों का मार्मिक, सूक्ष्म और जीवन्त चित्रण किया है। जनभाषा अवधी को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। उन्होंने जीवन के कई पक्षों का इतना हृदयस्पर्शी चित्रण किया है कि पाठक भाव-विभोर हो जाते हैं। रामचरितमानस के एक-एक प्रसंग को पढ़कर पाठक सुध-बुध खो बैठते हैं। हाँ, जहाँ-जहाँ ब्रह्म और दर्शन का उल्लेख होता है वहाँ-वहाँ कथा-रस अवश्य बाधित होता है। कुल मिलाकर रामचरितमानस एक अद्वितीय महाकाव्यात्मक कृति है।

14.7 अभ्यास/प्रश्न

(1) "प्रबंधकार कवि की भावकुता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सकता है या नहीं।'' तुलसीदास कृत रामचरितमानस के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के उक्त कथन का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(2) तुलसी की कविता में चित्रित जीवन फलक का विवेचन कीजिए।

(3) तुलसी की भाषा पर विचार कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

गोस्वामी तुलसीदास,		रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य	:	मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
मीरा का काव्य	:	विश्वनाथ त्रिपाठी दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड
लोकवादी तुलसीदास	:	विश्वनाथ त्रिपाठी राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
सूरदास	:	रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी, वाराणसी
त्रिवेणी		रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

IMDC-066

NMDC-066

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-102

हिन्दी काव्य

(आदि काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य)

खंड

2

रीति काव्य

इकाई 15
बिहारी के काव्य का महत्व 5

इकाई 16
घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना 17

इकाई 17
पद्माकर की कविता 28

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें 38

NMDC-066

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. ओम अवस्थी
गुरूनानक देव
विश्वविद्यालय, अमृतसर

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. नामवर सिंह
32-ए, शिवालिक अपार्टमेंट
अलकनंदा, नई दिल्ली

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-21/17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1,
गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. प्रेम शंकर
बी-16, सागर विश्वविद्यालय
परिसर, सागर

प्रो. मुजीब रिज़वी
220, ज़ाकिर नगर
नई दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी
3, बैंक रोड, इलाहाबाद

प्रो. लल्लन राय
3, प्रीत विला, समर हिल
शिमला

प्रो. शिवकुमार मिश्र
एफ-17, मानसरोवर पार्क कालोनी
पंचायती हॉस्पिटल मार्ग,
वल्लभ विद्यानगर, गुजरात

स्व. शिव प्रसाद सिंह

प्रो. सूरजभान सिंह
आई-27, नारायणा विहार
नई दिल्ली

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
डॉ. जवरीमल्ल पारख
डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. नीलम फ़ारुक़ी
श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी
श्रीमती विमल खांडेकर

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक
डॉ. चन्द्रभानु प्रसाद सिंह
अयोध्या प्रसाद सिंह स्मारक
महाविद्यालय, बरौनी (बिहार)

इकाई संख्या
15, 16 एवं 17

संपादक
प्रो. मैनेजर पाण्डेय

पाठ्यक्रम संयोजक
डॉ. सत्यकाम

संकाय पाठ्यक्रम समिति
डॉ. रीतारानी पालीवाल
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. सत्यकाम (संयोजक)

निर्माण

मुद्रण
सुश्री पुष्पा गुप्ता
कॉपी एडिटर

कैमरा रेड्डी कॉपी
श्री हरीश कुमार सेठी

आवरण सज्जा
श्री पंकज खरे

सचिवालयी सहयोग
श्री राम बचन प्रजापति
श्री महावीर सिंह सैनी

अक्टूबर, 2003 (पुनः मुद्रण)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 1999

ISBN-81-7605-55252

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्य किसी साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

खंड 4 रीति काव्य का परिचय

पिछले दो खंडों में आपने भक्ति काव्य के प्रमुख रचनाकारों और उनकी रचनाओं की जानकारी प्राप्त की। इस खंड में आप रीति काव्य के तीन प्रमुख रचनाकारों - बिहारी, घनानंद और पद्माकर - की रचनाओं का अध्ययन करने जा रहे हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक के काल को रीतिकाल की संज्ञा दी गई है। अब तक साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति भक्ति थी, यहाँ से अलंकार, रस और नायिका-भेद कविता को प्रेरणा देने लगे। लगभग एक ढर्रे या रीति से कविता लिखी जाने लगी। काव्यांगों का लक्षण-उदाहरण देना ही कविता का उद्देश्य हो गया।

इस युग के कवियों को तीन धाराओं में विभक्त किया गया है - रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीति मुक्त।

बिहारी रीतिसिद्ध कवि थे। उन्होंने रीति की बंधी-बंधाई परिपाटी के अनुकूल रचना की पर लक्षण ग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से कविता लिखी। बिहारी के दोहे रीति ग्रंथ लिखने वालों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि बिहारी रीति से बंधकर भी स्वतंत्र हैं। इकाई 15 में बिहारी के काव्यगत सौंदर्य पर विचार किया गया है। बिहारी ने सतसैया की रचना की और दोहे में 'मुक्तक' लिखा। उनकी कविता में शृंगार की प्रमुखता है, हालांकि भक्ति और नीति के दोहे भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

इकाई 16 में रीति मुक्त या स्वच्छंदधारा के कवि घनानंद की कविताओं का अध्ययन किया गया है। इनकी कविताओं में अनुभूति पर आधारित प्रेम की व्यंजना हुई है। जिस युग में घनानंद ने कविता लिखी उस युग में शृंगार का बोलबाला था। यह शृंगार उपभोग-प्रधान था। घनानंद के लिए प्रेम खेल नहीं था बल्कि उसमें सब कुछ गंवाकर प्रेम को प्राप्त करने की आकांक्षा थी। उनके लिए प्रेम एक सच्चा मार्ग था जिसपर कपटी और बुरे आचरण वाले लोग नहीं चल सकते । उनके प्रेम में अनुभूति है जो उस युग के कवियों में ढूँढने पर भी नहीं मिलती। यही घनानंद के महत्व का आधार है।

रीतिबद्ध कवियों ने लक्षण ग्रंथ लिखे। उनकी कविता उन लक्षणों के उदाहरणों के रूप में सामने आई। रीतिबद्ध कवियों में केशवदास, सेनापति, मतिराम, देव और पद्माकर प्रमुख हैं। हम इस खंड में पद्माकर की कविताओं का अध्ययन करेंगे (इकाई 17)। पद्माकर रीतिबद्ध कवि हैं। पद्माकर ने रीति काव्य के साथ-साथ प्रशस्ति काव्य और भक्ति काव्य की भी रचना की है। परंतु अपनी शृंगारिक कविताओं के लिए वे प्रसिद्ध हैं। पद्माकर को अनेक राजदरबारों में आश्रय मिला। वे राजसी ठाठ में रहते थे और शृंगारिक कविताएँ लिखते थे। 'जगद्विनोद' उनका प्रमुख शृंगार ग्रंथ है। उन्होंने अपने इस काव्य ग्रंथ में शृंगार, रस और नायक-नायिका भेद का विस्तार से वर्णन किया है। वे कवि के साथ-साथ आचार्य भी थे। इस खंड की अंतिम इकाई (इकाई 17) में हम पद्माकर की काव्यगत विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

NMDC-066

NMDC-066

इकाई 15 बिहारी के काव्य का महत्व

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 समकालीन परिवेश
15.3 शृंगार निरूपण
15.3.1 संयोग चित्रण
15.3.2 वियोग चित्रण
15.4 प्रकृति चित्रण
15.5 भक्ति और नीति
15.6 मुक्तक काव्य परंपरा और बिहारी
15.7 बिहारी की भाषा
15.8 सारांश
15.9 प्रश्न/अभ्यास

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम बिहारी की कविता का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- बिहारी के समकालीन परिवेश की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- शृंगार के कवि के रूप में बिहारी से परिचित हो सकेंगे
- बिहारी की कविताओं में हुए प्रकृति चित्रण के स्वरूप पर विचार कर सकेंगे
- बिहारी के भक्ति और नीति संबंधी दोहों की विशेषताएँ जान सकेंगे
- मुक्तक कवि के रूप में बिहारी की उत्कृष्टता को रेखांकित कर सकेंगे
- बिहारी की भाषा पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- हिंदी साहित्य में बिहारी का स्थान-निर्धारण और मूल्यांकन कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। बिहारी की एकमात्र कृति ''सतसई'' है, और यह इस बात का प्रमाण है कि किसी कवि की श्रेष्ठता की अंतिम कसौटी उसके कृतित्व का परिमाण नहीं, गुण ही है। केवल चौदह सौ से कुछ अधिक पंक्तियाँ लिखकर बिहारी ने जो यश अर्जित किया, वह बहुतेरे चौदह हज़ार पंक्तियों के रचयिता के लिए भी दुर्लभ है। लोकप्रियता की दृष्टि से ''बिहारी सतसई'' का एकमात्र प्रतिद्वंद्वी ''रामचरितमानस'' है।

अनुमानत: बिहारी का जन्म 1595 ई. में ग्वालियर में हुआ। बचपन में ही उन्हें अपने पिता के साथ ग्वालियर से ओरछा चला जाना पड़ा, जहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। बिहारी का विवाह मथुरा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ और विवाहोपरांत वहाँ बहुत दिनों तक रहे भी।

रीति-कविता राजाओं और रईसों के आश्रय में पली थी। रीति-कवियों के आश्रयदाता तत्कालीन राजा और रईस ही थे। रीति काव्य के सिरमौर बिहारी के आश्रयदाता कई राजा थे। उन्हें कुछ काल तक जहाँगीर के दरबार में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वे शाहजहाँ के कृपापात्रों में थे। 1620 ई. में शाहजहाँ के पुत्र-जन्मोत्सव पर सारे देश के अनेक नरेश आमंत्रित हुए थे। बिहारी को उस आयोजन में अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिला, जिससे प्रसन्न होकर अनेक राजाओं ने उनकी थोड़ी-थोड़ी वृत्ति बाँध दी। 1621 ई. में नूरजहाँ की कुटिलता के कारण शाहजहाँ को आगरा छोड़ देना पड़ा और, इसके साथ ही बिहारी का भी मुगल दरबार से सम्बन्ध टूट-सा गया। इसके उपरांत उनका जीवन कुछ काल तक बड़ी अनिश्चित स्थिति में रहा। 1635 ई. के आसपास वे अपनी वृत्ति के लिए जयपुर के राजदरबार में गए, जहाँ महाराजा जय सिंह राज्य की सारी चिंताओं से दूर अपनी नई रानी में डूबे हुए थे। तब उन्होंने महाराज की सेवा में यह दोहा भेजा -

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाल।।

IMDC-066

अर्थात "न पराग है, न मीठा मकरंद; इस समय तक विकास भी नहीं हुआ है - वह खिली भी नहीं है। अरे भौरा! कली से ही तो तू इस प्रकार उलझ गया, फिर आगे तेरी क्या दशा होगी।" इस दोहे ने महाराज पर जादू का-सा असर किया और वे अंत:पुर से निकलकर फिर राज-काज देखने लगे। बिहारी पुरस्कृत हुए और भविष्य में इस प्रकार के प्रत्येक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा पुरस्कार स्वरूप देने का आश्वासन भी मिला। बड़ी रानी श्रीमती अनन्त कुमारी (चौहानी रानी) ने बिहारी का सम्मान करते हुए "काली पहाड़ी" नामक एक ग्राम दे डाला। साथ ही, उपर्युक्त घटना का स्मारक चित्र भी बनवाया, जो जयपुर के राज प्रासाद में सुरक्षित है। आगे चलकर चौहानी रानी के पुत्र युवराज राम सिंह के लिए बिहारी को शिक्षक भी नियुक्त किया गया। महाराज जयसिंह के दरबार से एक लम्बे समय तक बिहारी का सम्बन्ध रहा और वहाँ रहते हुए "सतसई" के अधिकतर दोहे लिखे गए। कहा जाता है कि "सतसई" की रचना बिहारी लाल ने महाराज जय सिंह के लिए की थी। उन्होंने निम्नलिखित दोहे में इसका संकेत किया है -

हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद।।

शाहजहाँ के सम्राट बनने के बाद बिहारी का पुन: मुगल दरबार से सम्बन्ध जुड़ गया और उनका शेष जीवन बड़े गौरव और सम्मान के साथ व्यतीत हुआ। उनका देहावसान 1663 ई. के आसपास माना जाता है।

15.2 समकालीन परिवेश

बिहारी के जीवन के इतिवृत्त से स्पष्ट है कि उन्हें विभिन्न राज दरबारों में आश्रय मिला। तब अधिकांश राजाओं का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राजवंश ऐश-आराम में मस्त था। राजाओं और रईसों के लिए अवकाश और विलास का अवसर कहीं अधिक था। इनमें आत्म-गौरव की चेतना नि:शेष हो चुकी थी। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामंती रह गया था। किंतु ऐहिकता और सामंतवाद की शक्ति भी अब उनमें नहीं थी, केवल भोगवाद ही शेष था। अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिनमें सरस काव्य भी सम्मिलित था। वह सरस काव्य केवल विनोद का रसाला ही नहीं था, एक परिष्कृत बौद्धिक आनंद का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी था। राजा और रईस रससिद्ध कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे। इससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

बिहारी इसी परिवेश में सतसई के दोहों की रचना कर रहे थे। उनके सामने जीवन का कोई ऊँचा आदर्श या यथार्थ की खुरदरी ज़मीन नहीं थी, रूप-रस की उपासना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। बिहारी इस रूप-रस के बेजोड़ उपासक कवि हैं। रूप-चित्रण में नारी ही उनका आलंबन है। उन्होंने जैसी अमलवर्ण अनिन्द्य सुंदरियों का गतिशील रूप रेखांकित करने का प्रयास किया है, वे किसी भी साहित्य का शृंगार बन सकता है। रूप-वर्णन में विद्यापति भी कम नहीं हैं, पर दोनों में भारी अंतर यह है कि विद्यापति की नायिका "साँवरि" है जबकि बिहारी लाल ने साँवलियों का मानो तिरस्कार ही किया है। इसके पीछे कहीं-न-कहीं दरबारी संस्कृति का असर है। दरबार में "साँवरि" की पूछ कहाँ? बिहारी की नायिका की गोराई - दुधिया गोराई - है। उनकी श्वेत-वर्णा नायिका की निष्कलंक प्रभा परमोज्ज्वल है, ऐसी कि प्रेक्षकों की आँखों में भी दूध उड़ेल देती है -

कहा कुसुम, कह कौमदी, कितक आरसी-जौति।
जाकि उजराई लखै, आंखि ऊजरी होति।।

रीति-काव्य जिस दरबारी परिवेश में रचा जा रहा था, वहाँ काव्य मात्र क्रीड़ा और मनोविनोद की वस्तु बनकर रह जाता है। उसमें अलंकारों की प्रचुरता, उक्ति की बारीकी और भाषा की सजावट-मँजावट पर अधिक ध्यान दिया जाता है और उद्देश्य की व्यापकता गौण पड़ जाती है। बिहारी के काव्य में भी ये सारी बातें कमोबेश देखी जा सकती हैं। इस अर्थ में बिहारी का काव्य अपने परिवेशगत संस्कारों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। तत्कालीन राजाओं; रईसों एवं दरबारी जनों के लिए सौंदर्य अपने-आप में उतना मनोज्ञ नहीं समझा जाता था। उसकी मनोज्ञता के लिए अलंकरण आवश्यक शर्त थी। बिहारी

HMDC-066

ने भी अलंकरण पर बहुत अधिक बल दिया है। यह अलंकरण प्राय: वस्त्रों के चटकीलेपन, अलंकारों के बहुल प्रयोग और प्रसाधनाधिक्य के रूप में देखने को मिलता है। बिहारी की नायिका की ऐसी स्थिति है कि

अंग-अंग नग जगमगत, दीप सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाए हू रहे, बड़ो उजारौ गेह।'

अर्थात ''दीपक की लौ के समान नायिका के अंग-प्रत्यंग में नग जगमगा रहे हैं। अतएव दीपक बुझा देने पर भी घर में (ज्योतिपूर्ण शरीर और नगों के प्रकाश से) खूब उजाला रहता है।'' इसके विपरीत, लोक जीवन की नैसर्गिक सुषमा की ओर या तो कवि की दृष्टि जाती ही नहीं और जाती भी है तो ग्राम वधू के ''ललचौंहे नैन'' और ''उठौंहे कुच'' से ही टकराकर रह जाती है।

15.3 शृंगार निरूपण

बिहारी शृंगार के बड़े कवि हैं। उनके दोहों में शृंगार के दोनों पक्षों - संयोग और वियोग - का विशद और सूक्ष्म चित्रण हुआ है। बिहारी की कविता में प्रेम के भौतिक पक्ष का वर्चस्व है। इसमें वर्णित प्रेम सामंती है जिसका मूल आधार रूपासक्ति है।

15.3.1 संयोग चित्रण

बिहारी की कविताओं में संयोग शृंगार के प्रति विशेष ललक दिखाई पड़ती है। संयोग शृंगार का मूल आधार रूपासक्ति और शारीरिक आकर्षण है जिसमें नायक-नायिका के रूप, भंगिमा, चेष्टा आदि का बाहुल्य है। देखकर, सुनकर, स्पर्श कर, बातचीत कर संयोग का परिवेश तैयार होता है। बिहारी के शृंगार वर्णन में क्रीड़ा की प्रधानता है। बिहारी प्रेम को चौगान का एक खेल मानते हैं -

सरस सुमिल चित्र तुरंग की, करि-करि अमित उठान।
गोह निबाहें जीतियै, खेलि प्रेम चौगान।।

बिहारी का प्रेम घनानंद के प्रेम के समान उदात्त नहीं है जहाँ प्रेम 'अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँकी नहीं।' यहाँ प्रेम में जीवन-मरण का सवाल है। बिहारी के नायक-नायिकाओं के लिए तो प्रेम एक खेल है।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, बिहारी का मुख्य वर्ण्य-विषय नायक-नायिका का संयोग-वियोग वर्णन है। इस संयोग-वियोग वर्णन में भी उनकी दरबारी मनोवृत्ति की झलक देखने को मिलती है। उनके संयोग-चित्रों में मानसिक विशदता और उत्फुल्लता उतनी नहीं मिलती जितना नायिका की विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं का मनोरम अंकन मिलता है। इसे शास्त्रीय शब्दावली में ''अनुभाव योजना'' कहते हैं। उदाहरण के लिए आँखों का लाल होना, भौहों का चढ़ना आदि अनुभाव हैं जिनसे क्रोध की व्यंजना होती है। बिहारी एक ही भाव की व्यंजना के लिए एक-साथ अनेक अनुभावों का चित्रण करते हैं। इस संदर्भ में बिहारी अपना सानी नहीं जानते। रीति-युग के वे सबसे बड़े शब्द-चित्रकार हैं। उनकी बनाई तस्वीरें बड़ी साफ हैं, जिनमें नायिका की भिन्न-भिन्न भंगिमाओं, उसके अंगों के बाँकपन और उठान, उसकी एक-एक अदा और खूबी को देखा जा सकता है -

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाय।।

(राधा ने) बातचीत का मजा लेने के लिए लोभ से श्रीकृष्ण की मुरली छिपाकर रख दी। (अब श्रीकृष्ण के माँगने पर) शपथ खाती है, भौंहों से हँसती है। (भौंहों को नचा-नचाकर प्रसन्नता जताती है) देने को कहती है (देने के लिए तैयार होती है) और पुनः मना कर देती है। वस्तुत: बिहारी का प्रत्येक दोहा अपने-आप में एक पूरी तस्वीर है। उन्होंने दोहे जैसे छोटे छंद का प्रयोग करके भी चित्र में कहीं धूमिलता नहीं रहने दी है। इतनी कम रेखाओं से ऐसी साफ तस्वीर खींच देना किसी कुशल चित्रकार के लिए भी कठिन होता है।

बिहारी नायिका की मुद्राओं का सहज चित्रण करने में माहिर हैं। देखिए एक चित्रण -

NMDC-066

कर समेटि कच भुज उलटि खएँ सीसपट डारि।
काको मन बाँधै न यह जूरो बाँध निहारि।।

नायिका अपने हाथों से अपने बालों को झटक कर पीछे ले जाती है और उसका जूड़ा बना रही है। कवि कहता है कि यह दृश्य किसी को भी बाँध सकता है। यहाँ नायिका की चेष्टाओं का वर्णन मात्र कर दिया गया है। इसमें किसी प्रकार के भाव की स्थापना नहीं है। नायिका की मुद्राओं का सहज वर्णन इस दोहे की विशेषता है।

बिहारी-सतसई नायक-नायिका की ऐसी ही चेष्टाओं-क्रियाओं के चित्रण से भरा पड़ा है। गुरुजनों के बीच बैठे नायक-नायिका के बीच आँखों ही आँखों में प्रेम संवाद होता है -

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात'
भरे भौन में करत हैं, नैननु हीं सब बात।।

प्रेम में प्रिय की सभी वस्तुएँ प्यारी लगती हैं। एक बानगी देखिए :

उड़ति गुडी लखि लाल की, अंगना अंगना मांहि।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुअत छबीली छांहि।।

नायक पतंग उड़ा रहा है, उसकी परछाईं नायिका के घर पर पड़ रही है। नायिका उस परछाईं के पीछे-पीछे भाग रही है तथा पतंग की छाया को छूकर प्रिय-स्पर्श के सुख का अनुभव कर रही है। बिहारी के अनेक दोहों में इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक अवस्था का चित्रण किया गया है।

यह सही है कि बिहारी के संयोग शृंगार में युग का विलासी-वातावरण चित्रित हुआ है जिसमें उन्होंने जीवन के रसीले प्रसंगों का सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। इसीलिए संयोग-शृंगार को उनकी काव्य की आत्मा माना गया है। उनकी कविताओं में नायक-नायिका की मुद्राएँ, हाव-भाव, चेष्टाएँ पाठक को मुग्ध और चमत्कृत करती हैं। बिहारी ने रूप वर्णन के साथ-साथ रूप की सूक्ष्म अनुभूतियों का भी चित्रण किया है। उन्होंने प्रेम और सौंदर्य का सूक्ष्म चित्रण किया है।

15.3.2 वियोग चित्रण

शृंगार-रस में वियोग का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें प्रेमानुभूति की गहरी और व्यापक अनुभूति होती है। जब प्रेम विरह की आग में तपता है तब ही उसकी असली परीक्षा होती है। कवि विरह की इस व्यापकता को पहचानता है -

लाल, तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप, अपार।
सरसै बरसैं नीर हूँ, झर हूँ मिटै न झार।।

अर्थात् प्रिय तुम्हारे विरह की अग्नि की तुलना और किसी चीज़ से नहीं की जा सकती, इसकी थाह भी नहीं ली जा सकती। ऊपर से नीचे तक मैं आँसू की धारा बन गई हूँ फिर भी इस प्रचंड ताप की जलन मिट नहीं रही है।

बिहारी ने अपनी कविता में नायक के परदेश जाने के प्रसंग और उससे उत्पन्न विरह वेदना का यथार्थ चित्रण किया है -

अजौ न आए सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत ललन चलन की बात।।

नायक 'परदेस' जा रहा है। सखी कहती है कि अभी तो प्रथम वियोग से ही नायिका पूरी तरह उबर नहीं पाई थी कि प्रिय के जाने का समय आ गया। विरह में दुबले हो गए शरीर (विरह दूबरे गात) में वियोग की पीड़ा व्यंजित हुई है। इन पंक्तियों में विरह सीधे-सीधे हमारी संवेदना और सुख-दुःख की अनुभूति से जुड़ गया है।

प्रिय का इंतज़ार कठिन और पीड़ादायी होता है। आसपास की चीज़ों में प्रिय की ही तस्वीर नज़र आती है पर प्रिय नहीं होता। कवि ने प्रेमिका की इसी संवेदना को निम्नलिखित दोहे में व्यक्त किया है -

स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-नीर।
अँसुवनि करति तरौंस को खिनक खरौहों नीर।।

राधा श्याम का स्मरण करके बार-बार श्याम-वर्णी यमुना की ओर देख रही है। यमुना में उसे श्याम का प्रतिबिंब दीख रहा है पर श्याम आते नहीं दीखते। यमुना तट को देखकर न जाने कितनी यादें ताज़ा हो जाती हैं। आँसू खारा है और इसके निरंतर प्रवाहित होने से यमुना तट का जल भी खारा हो जाता है।

प्रतीक्षा की एक-एक घड़ी युगों के समान मालूम पड़ती है। नायक की प्रतीक्षा, आतुरता, उत्सुकता और अधीरता का वर्णन निम्नलिखित दोहे में हुआ है -

जदपि तेज राहौल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंडो घर को भयौ पैंडो कोस हजार।।

नायक तेज़ चलने वाले घोड़े पर सवार होकर पलक झलकते ही घर के बाहर पहुँच जाता है किंतु घर का रास्ता ही उसे हज़ार कोस लगने लगा। प्रतीक्षा की वेला का बड़ा ही सुंदर चित्रण बिहारी ने किया है।

लेकिन जैसे ही बिहारी की वाणी अतिशयोक्तिपूर्ण एवं ऊहात्मक होती है वहीं विरह की उक्तियाँ खिलवाड़ मात्र बनकर रह जाती हैं। उनकी ये उक्तियाँ विरहिणी के प्रति पाठक की सहानुभूति तो नहीं ही उकसा पाती, उल्टे इस प्रयत्न में विरहिणी हास्यास्पद बन जाती है -

आड़ै दै आले वसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति।।

जाड़े की (ठंडी) रात में भी गीले कपड़े की ओट कर बड़े साहस से प्रेमवश सभी सखियाँ (उस विरहिणी नायिका के) निकट जाती हैं। (क्योंकि उसके शरीर में ऐसी प्रचंड विरह-ज्वाला है कि आँच सही नहीं जाती!)।' इसलिए बिहारी की विरहिणी जाड़े में भी गीले वस्त्र पहनकर उसके पास जाती है। विरह की व्याकुल नायिका की ज्वाला को शांत करने के लिए जब सखियाँ गुलाब जल डालने का प्रयास करती हैं तो वह बीच में ही वाष्प बनकर उड़ जाता है -

औंधाई सीसी, सुलखि विरह - बरनि विललात।
विच हीं सूखि गुलाबु गौ, छीटौ छुई न गात।।

विरह-संबंधी अत्युक्ति के अखाड़े में तो बिहारी उर्दू-फारसी के कवियों को भी पीछे छोड़ देते हैं। उर्दू कवियों का "आशिक" तो "इन्तहाए लागरी" से मौत को सिर्फ नंगी आँखों से नहीं दीख पड़ा था, मगर बिहारी की नायिका की कृशता इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि चश्मा लगाने पर भी वह नहीं देखी जाती-

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़त नीचु।
दीनेहूँ चसमा चखनि चाहे लखै न मीचु।।

विरह ने नायिका को ऐसी दुबली-पतली बना दिया तो भी नीच मृत्यु उसका पीछा नहीं छोड़ती। आँखों पर चश्मा चढ़ाकर भी उसे ढूँढ निकालना चाहती है, पर तो भी नहीं ढूँढ पाती। इस संदर्भ में जफर का शेर बरबस याद हो आता है -

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने-कोने ढूँढती फिर कजा थी मैं न था।।

वस्तुत: बिहारी का संयोग वर्णन जितना सफल हुआ है उतना वियोग वर्णन नहीं। लगता है बिहारी को जीवन के संयोग पक्ष का जैसा अनुभव था वैसा वियोग पक्ष का नहीं। नायिका की सुकुमारता, विरह ताप, विरह क्षीणता आदि में बिहारी कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं और वहाँ

NMDC-066

उनकी कविता खिलवाड़ मात्र बन गई है। इनके-विरह वर्णन में न तो सूर की स्वाभाविकता और तीव्रता है और न जायसी की सी गहनता और अशेष सृष्टि के साथ रागात्मकता। वियोगावस्था में पहुँचते ही बिहारी की नायिका कभी चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती-फिरती है, कभी जुगनुओं को अंगारे समझकर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। रोती है तो आँसू छाती पर पड़ते ही भाप बन कर उड़ जाते हैं। गुलाबजल छिड़कने पर वह भीतर ही सूख जाता है। ऐसे स्थलों में बिहारी बुरी तरह असफल रहे हैं।

बिहारी का मन वियोग-वर्णन में रमा नहीं और विरह में प्रेम क जिस उदात्त रूप का रससिद्ध कवि साक्षात्कार करा दिया करते हैं, बिहारी नहीं करा सके। वे प्रेम के सहज रूप को कम और उसके मनोहर रूप को अधिक पसंद करते हैं। वे उसके कल्पना-कोमल रूप को उभारने का अधिक प्रयास करते हैं और उसकी अनायास शोभा को कम। वे चित्र को कलापूर्ण बनाने में अधिक श्रम करते हैं, उसे वैयक्तिक संबंधों की अनुभूतियों से रंग नहीं पाते। इसीलिए न तो उनमें कालिदास और भवभूति का प्रेमादर्श है, न ही सूर की गहनता और व्यापकता और न ही तुलसी की शालीनता। इस संदर्भ में रीति-युग के ही मतिराम, पद्माकर और देव में अधिक गहनता है। वस्तुत: बिहारी का प्रेम चित्रण रसिकता की कोटि तक पहुँच कर रह गया है, उसकी उच्च भावभूमि पर नहीं पहुँच पाया है। इसके बावजूद बिहारी रीति-युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। इसका मुख्य कारण रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में बिहारी की कृति का जो अधिक मूल्य आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए - उसके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देखकर घंटों वाह-वाह किया करते हैं पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यांतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

15.4 प्रकृति चित्रण

वहरहाल सम्पूर्ण भक्ति और रीति-काल में प्रकृति उपेक्षिता रही है। उसे या तो मानव व्यापारों की पृष्ठभूमि बनना पड़ा है अथवा मानव-सौंदर्य के अंकन-क्रम में अलंकार रूप में उसका उपयोग हुआ है। उसकी स्वतंत्र सत्ता की ओर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया। बिहारी भी इस सामांन्य नियम के अपवाद नहीं थे। उनके मन में प्रकृति-सौंदर्य के प्रति कोई ममत्व नहीं, फिर भी दो-चार वसन्त, ग्रीष्म या पावस से सम्बद्ध अच्छे दोहे उनकी लेखनी से फिसल पड़े हैं। वह उनकी प्रतिभा का वैसा ही दिशान्तर-भ्रमण है, जैसे कभी-कभी शहराती बाबू ''पिकनिक'' के लिए पड़ोस की वनभूमि की ओर निकल जाते हैं। प्राचीन कवियों में से सेनापति को छोड़कर किसी ने भी प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण नहीं किया। प्राय: उपदेश, रहस्य, अलंकार-विधान या उद्दीपन रूप में उसका प्रयोग किया गया है। बिहारी ने भी उसका ग्रहण अप्रस्तुत रूप में किया है, पर कहीं-कहीं पर उसको स्वतंत्र इकाई के रूप में भी चित्रित किया है। बिहारी का एकाध प्रकृति-चित्र तो बेजोड़ है -

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीरु।
मंद-मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीरु॥

भौंरे-रूपी घंटे बज रहे हैं और मकरंद-रूपी गज-मद झर रहा है। कुंज-समीर-रूपी हाथी मंद-मंद चला आ रहा है। एक दूसरा प्रकृति-चित्र देखिए -

बैठी रही अति सघन वन पैठि सदन तन मांह।
देखी दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह॥

छाया या तो अत्यंत सघन वन में बैठ रही है या बस्ती के घर या जीवों के शरीर में घुस गई है। मालूम पड़ता है जेठ मास की दुपहरी देखकर छाया भी छाया चाहती है। ध्यातव्य है कि जेठ की दुपहरी में सूर्य ठीक सिर के ऊपर मध्य आकाश में रहता है। अत: सब चीज़ों की छाया अत्यंत छोटी होती है। पेड़ की

छाया ठीक उसकी डालियों के नीचे रहती है। घर की छाया घर में ही घुसी रहती है - दीवार से नीचे नहीं उतरती। शरीर की छाया भी नहीं दीख पड़ती - परछाई पैरों के नीचे चली जाती है, मानो वह भी शरीर में ही घुस गई हो। इस दोहे से बिहारी के प्रकृति निरीक्षण-नैपुण्य का उत्कृष्ट परिचय मिलता है।

यहाँ पर प्रकृति के चित्रांकन और नाद-सौंदर्य मनोरम बन पड़े हैं। बिहारी ने मनुष्य स्वभाव को प्रकृति से बहुत कुछ प्रभावित माना है। अत: दोनों को आमने-सामने रखकर चित्रित किया है। इसके बावजूद प्रकृति-चित्रण के संदर्भ में कहना ही होगा कि बिहारी 'शहराती बाबू' की तरह पिकनिक के लिए पड़ोस की वनभूमि की ओर निकले हैं। वस्तुतः 'बिहारी सतसई' में प्रकृति के प्रति यह दुराव या अनभिज्ञता दरबारी संस्कृति में आपाद-मस्तक डूबे रहने के कारण है। राज दरबारों में तो प्रकृति के औदार्य एवं विस्तार का दर्शन दुर्लभ ही रहता है। किंतु जहाँ वे प्रकृति का मनोरम दृश्य चित्रित करते हैं, वहाँ दरबारी संस्कृति से मुक्ति भी दिखाई पड़ती है।

15.5 भक्ति और नीति

भक्ति

बिहारी ने भक्ति और नीति के दोहे भी लिखे हैं। और यहाँ वे दरबारी संस्कृति से मुक्त होते प्रतीत होते हैं। यह सही है कि रीति-काल के अधिकांश कवियों की भाँति बिहारी की भक्ति भी औपचारिक है औ शायद कवि के आत्म-प्रबोध का एक बहाना भी! बिहारी ने जहाँ अपने आराध्य का स्मरण किया है, वहाँ भी उनकी रसिकता, चमत्कारप्रियता और अलंकरण-वृत्ति साथ लगी हुई है। ''सतसई'' के मंगलाचरण वाले इस दोहे को देखें -

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं स्याम हरित-दुति होइ।।

ध्यातव्य है कि कवि का सांसारिक कष्टों के शमन के लिए निवेदन ''नागरी राधा'' से है। दोहे के चौथे चरण के चमत्कार के संबंध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है, जिसके दर्जनों अर्थ किए जा चुके हैं। तब इतना अवश्य है कि बिहारी मुक्ति हेतु तीर्थ-व्रत और कर्मकांड को व्यर्थ घोषित कर अनन्य भगवत्प्रेम और सत्संग पर बल देते हैं -

जपमाला छापा तिलक सरै न एको काम।
मन काँचै नांचै वृथा साँचै राँचे राम।।

जप (मंत्र-पाठ), माला (सुमिरन), छापा या तिलक से एक भी काम नहीं सध सकता - कोई भी मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। जब मन कच्चा है - मन वश में नहीं है तो यह सारा नाच (आडम्बर) वृथा है, (क्योंकि) राम तो सत्य से ही प्रसन्न होते हैं (आडम्बरों से नहीं)। कबीरदास ने भी इन्हीं भावों से मिलते-जुलते लिखा है -

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआँ तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि।।

बिहारी और कबीर दो विपरीत ध्रुवों पर स्थित हैं, किंतु यह भाव-साम्य रेखांकित करने योग्य अवश्य है।

''बिहारी सतसई'' में भक्ति की चर्चा है,किंतु इससे बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस बात के प्रमाण हैं कि बिहारी की शिक्षा-दीक्षा ओरछा में ही हुई और वे वहाँ हरिदास सम्प्रदाय के महात्मा नरहरि दास के शिष्य हो गए। किंतु इनकी आस्था किसी वाद विशेष पर नहीं थी। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नृसिंह का स्मरण किया है। कहीं निर्गुण की महिमा मुक्त कंठ से गाई है। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद के संबंध में भी कुछ न कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी अत्यंत बल दिया है। कहीं-कहीं पर अपने आराध्य देव के प्रति अति श्रद्धामयी वचनवक्रता से भी काम लिया है। यह सब कुछ होते हुए भी उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। वे पहले कवि हैं और वह भी अनुराग के, विराग के नहीं। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त नहीं था। तभी तो उनकी दृष्टि राधा की तनद्युति पर टिकी रही है, मन तक नहीं जा सकी। भक्तों के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता

HMDC-066

और भावमग्नता उनमें नहीं है। फिर भी इतना तय है कि बिहारी के भक्ति संबंधी दोहे उनकी दरबारी संस्कृति से एक सीमित अर्थ में मुक्ति के प्रमाण हैं।

नीति

बिहारी के नीति के दोहे भले ही भक्ति के दोहों की तरह हाशिये पर हों, पर वे बिहारी के विशद जीवनानुभव और बहुज्ञता के प्रमाण हैं। उन्होंने न केवल सामान्य रीति-नीति और दरबारी अदब-कायदों से अपने पाठकों को अवगत कराने की आवश्यकता समझी है बल्कि जीवन के विभिन्न पक्षों, उतार-चढ़ाव के संबंध में भी मार्मिक सूक्तियाँ कही हैं। इसी क्रम में वे हँसते-हँसते अपने समाज की असंगतियों पर भी उंगली रख देते हैं। देखिए, पुंसत्व की दवा देने वाले एक वैद्य जी के प्रति कितना गहरा व्यंग्य है -

बहुधन लै अहसान कै, पारौ देत सराहि।
वैदवधू हँसि भेद सौं रही नाह-मुँह चाहि।।

बेचारा रोगी तो विश्वासपूर्वक पौष्टिक भस्म ले लेता है, लेकिन वैद्य की पत्नी, जो स्वयं पति की नपुंसकता को जानती है, इस ढकोसले को देखकर अपनी मुस्कुराहट नहीं छिपा पाती। ऐसे प्रसंगों में बिहारी की कविता दरबारी संस्कृति से मुक्त दृष्टिगत होती है।

बिहारी के नीति के दोहे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन दोहों में जीवन की कठोर वास्तविकता पर बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। ऐसा लगता है शृंगार के दोहे जहाँ राजाओं और आश्रयदाताओं के मनोविनोद के लिए लिखे गए हैं, वहाँ नीति के दोहे वास्तविक जीवन में पैठकर रचे गए हैं। इन दोहों में जिंदगी के वे आनंद और विषादपूर्ण अनुभव व्यक्त हुए हैं, जो कवि ने घूम-घूम कर पाये थे। एक ओर उन्होंने सज्जनों की वह मित्रता पाई थी, जो कभी नहीं घटती -

चटक न छाँड़त घटतहूँ सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरू फटै रंग्यो चोल रंग चीर।।

ऐसे सज्जन ज्यों-ज्यों उन्नति करते जाते हैं, त्यों-त्यों विनम्र होते जाते हैं -

नर की अरु नीलनीर की गति एकै करि जोय।
जेतो नीचौ ह्वै चलै तेतो ऊँचौ होय।।

यह भी देखा था कि अधिक दिनों तक पहुनाई करने से मान घट जाता है -

आवत जात न जानियत, तेजहि तजि सियरान।
घरहिं जँवाई लौ घट्यो, खरो पूस-दिनमान।।

महाराज जयसिंह की मृत्यु के पश्चात राज्य के लिए उनके उत्तराधिकारियों में होने वाले झगड़े और इस कारण उपेक्षित-पीड़ित प्रजा को देखकर बिहारी ने अनुभव किया था कि अधिक मालिकों के हो जाने से प्रजा को दुख भोगना पड़ता है -

दुसह दुराज-प्रजान को, क्यों न बढ़ै दुख द्वंद।
अधिक अंधेरो जग करै मिलि पावस रविचंद।।

कवि ने धन के नशे में चूर उन व्यक्तियों को देखा था और पाया था कि धन का नशा धतूरे के नशे से भी बढ़कर होता है -

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौरात नर यहि पाये बौराय।।

वस्तुत: नीति के दोहे अनुभव की खमीर से बने हैं। कवि ने अपने काव्य-कौशल से इन्हें परम विश्वसनीय और काव्योपयोगी बना दिया है। जल से सज्जन की तुलना करके कवि ने सज्जन के स्वभाव को बड़ी खूबी से उदाहृत कर दिया है। इसी प्रकार, दो राजाओं से उत्पन्न स्थिति को अमावस्या

HMDC-066

की पृष्ठभूमि में रखना, जबकि सूरज और चाँद के मिल जाने से घोर अंधेरा हो जाता है, बिहारी की कवि-बुद्धि का परिचायक है।

15.6 मुक्तक काव्य परंपरा और बिहारी

बहुत बड़ी बात को थोड़े शब्दों में चमत्कारपूर्ण ढंग से कह देना, एक बड़े प्रसंग को दोहे की सीमित काया में अंटाकर अलंकारों की लड़ी पिरो देना बिहारी का प्रमुख कौशल है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में **मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं बहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं, जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।**

भारत में ईसा के आसपास से ही ऐसे शृंगारिक मुक्तकों का प्रचलन था, जिसमें धर्म और नैतिकता के अनुशासन से दूर लोक जीवन के रसमय पक्षों की झाँकी उपस्थित की जाती थी। इस संदर्भ में सातवाहन नरेश हाल की प्राकृत रचना ''गाथा सप्तशती'' उल्लेखनीय है। इसमें आभीर जाति के जीवन के उन्मुक्त हास-विलास, मनोरम प्रेम-क्रीड़ाओं और उन्मादक काम चेष्टाओं का मार्मिक अंकन हुआ है। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके अनुकरण पर संस्कृत में भी रचनाएँ होने लगीं। गोवर्द्धन की ''आर्या सप्तशती'', अमरूक के ''अमरूक शतक'', उत्प्रेक्षावल्लभ के ''सुन्दरी तिलक'' आदि में इसी परम्परा का विकास है। बिहारी जहाँ एक ओर रीतिशास्त्र के जानकार थे, वहीं दूसरी ओर उनका शृंगारिक मुक्तकों की इस सरस परम्परा से भी निकट का परिचय था और उन्होंने अपनी ''सतसई'' में दोनों का मुँह मिला दिया है। उन्होंने अपने संस्कार, परिवेश और फारसी शायरी से कलम की सफाई और महीनकारी लेकर पुरानी उक्तियों को और भी बेधक बना दिया है एवं उसमें एक विशेष प्रकार की चमक भर दी है। ''गाथा सप्तशती'' का एक पद है -

अब्बो दुक्कर आरक पुणो वितन्ति करेसि गमणास।
अज्ज विण होन्ति सरला वेणीय तरंगिणे चिउरा॥

अर्थात ''हे दुष्कर व्यवहार करने वाले! अब तक तो तुम्हारे प्रवास के दिनों के गुलझट पड़े केश भी नहीं सुलझ पाए हैं और तुम फिर बाहर जाने की चिन्ता में लगे।'' बिहारी ने इस भाव को किंचित बदलकर अपनी ''सतसई'' में यह रूप दे दिया है -

अजौ न आए सहज रंग बिरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयतु, ललन चलन की बात॥

'विरह में दुबली हुई (नायिका की) देह में अब तक स्वाभाविक कांति भी नहीं आई है (फिर) हे ललन, (परदेस) चलने की बात अभी क्यों चला रहे हैं?''

बिहारी का यह दोहा गाथाकार की उक्ति से कहीं ज्यादा मार्मिक और मनोज्ञ बन गया है क्योंकि वहाँ उलझे हुए केशों के ही न सुलझ पाने की चर्चा थी, यहाँ प्रिय के प्रवास का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर की विवर्णता के रूप में प्रकट हुआ है। इससे विरह की तीव्रता की व्यंजना तो होती ही है, पाठकों के अंत:करण पर भी इसका प्रभाव अधिक सीधा और गहरा पड़ता है। यह दोहा एक बाह्य व्यापार-मात्र से सम्बद्ध नहीं और अपेक्षाकृत विशद जीवन-दृष्टि तथा व्यापक मानसिक संघटन का परिचायक है।

बिहारी एक सजग कलाकार हैं। उन्होंने जीवन में 713 दोहों का ही एक ग्रंथ लिखा और वह है ''बिहारी सतसई''। बिहारी मुक्तक कवि हैं। मुक्तकार के पास जीवन का आधार फलक अत्यंत सीमित होता है और उसमें ही उसे सजीव रूप रेखाएँ और रंग भरने पड़ते हैं। जिस मुक्तक काव्य में यह रूप रंग जितना उज्ज्वल होगा वह उतना ही सफल होगा। संस्कृत के अमरूक और बिहारी के दोहों में मुक्तक काव्य की यह विशिष्टता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। मुक्तक काव्य में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति का होना अनिवार्य होता है, उसे अपने खंड दृश्यों में रस की एक ऐसी वेगवती अजस्र धारा प्रभावित करती होती है जो हृदय कलिका को विकसित कर दे, उसके प्रत्येक पद्य प्रदुर्वापर सम्बन्ध से रहित अपना एक अलग अस्तित्व हो, उसके पद्य-स्तबकों में

HMDC-066

प्रभावजन्य एक अपूर्व निविड़ता और तरलता हो, जो स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो और पाठक को चमत्कृत कर दे। मुक्तक के ये सभी गुण अपने भव्य रूप में बिहारी के दोहों में विद्यमान हैं। उनका प्रत्येक दोहा एक-एक उज्ज्वल रत्न है। उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। किसी ने ठीक ही कहा है -

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, बेधैं सकल सरीर॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक की सफलता के लिए दो शर्तें रखी हैं - ''कल्पना की समाहार शक्ति'' और ''भाषा की समास शक्ति''। बिहारी रमणीय प्रसंगों की उद्भावना और संयोजन में जितने पटु हैं, भाषा के चुस्त प्रयोग में भी उतने ही सुदक्ष। इसीलिए वे दोहे की छोटी-सी ज़मीन पर इतने करिश्मे दिखा सके हैं, जैसे नट कूदकर छोटी-सी कुंडली से शीघ्रता से निकल जाता है। ध्यातव्य है कि एक से एक बारीक सूझ बिहारी की कविता में मिलेगी। फिर, खूबी यह कि ये कल्पनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी प्रतीत रहती हैं। कल्पना की इसी समाहार शक्ति के कारण बिहारी ने एक-एक दोहे में अपार अर्थ-गाम्भीर्य भर दिया है - ''अर्थ अमित अरू आखर थोरे'' - तुलसीदास की इस उक्ति को बिहारी ने ही चरितार्थ किया।

बिहारी की काव्य-भाषा में समास शक्ति पूर्ण रूप में विद्यमान है। इसके कारण काव्य-भाषा में अद्भुत कसावट आ गई है। थोड़े में बहुत अधिक कह देना बिहारी का बहुत बड़ा कौशल है और यही उनकी सफलता का रहस्य भी है। लेकिन इसके लिए उन्हें शब्दों की ज्यादा तोड़-मरोड़ नहीं करनी पड़ी है।

संक्षिप्तता और सांकेतिकता के अतिरिक्त, बिहारी की काव्य-कला की दूसरी विशेषता है वाग्वैदग्ध या कथन-चातुरी। बिहारी एक साधारण-सी लगने वाली बात को भी इस खूबी से, इस शब्दावली में कहते हैं कि वह साधारण बात भी अपूर्व-असाधारण हो जाती है। अच्छे गहने और अच्छे वस्त्र के अभाव में भी वस्तुत: सुंदर स्त्री सुंदर लगती है। यह एक साधारण बात है। मगर इसी को बिहारी इस खूबी से कहते हैं कि एक अपूर्व चमत्कार आ जाता है -

भूषण भार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधो पायँ न परत महि, सोभा ही के भार॥

बिहारी ने शब्दों का निपुण और बेजोड़ प्रयोग किया है। यदि किसी शब्द विशेष को बदलकर पर्यायवाची अन्य शब्द रख दिए जाएँ तो सारा चमत्कार तो चौपट हो ही जाएगा ''लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मन-मूल कपाल।'' यहाँ ''श्रुति'' आदि शब्द बदले नहीं जा सकते। बिहारी के दोहे में प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट चित्र, ध्वनि और अर्थ रखता है। निम्नलिखित दोहे में प्रत्येक शब्द एक शब्द-चित्र दे रहा है और लगता है कि आँखों के सामने तस्वीरों की रील चल रही है -

भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहत, घरी लौं नैन।
ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन ॥

इसी प्रकार, निम्नलिखित दोहे में प्रत्येक शब्द ऐसी ध्वनि लिए हुए है कि उच्चारण से वस्तु का बोध हो जाता है -

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु-नीरू।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीरू॥

15.7 बिहारी की भाषा

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। उनके समय तक ब्रजभाषा साहित्य की भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी और सूर, तुलसी, नंददास, रसखान जैसे कवियों द्वारा उसका पर्याप्त परिमार्जन भी किया जा चुका था। बिहारी ने इस परिमार्जन का लाभ उठाया और उसके माधुर्य, ध्वन्यात्मकता आदि के विकास की साधना की। बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रजभाषा कह सकते हैं। उनके समय में ब्रजभाषा का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो चुका था। इनकी भाषा चलती हुई ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप है। उनका

NMDC-066

शब्द-गठन और वाक्य-विन्यास पर्याप्त सुव्यवस्थित है। बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की एकरूपता और प्रांजलता पर ध्यान दिया और भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप इनकी ही कविता में सर्वप्रथम निखार को प्राप्त हुआ। बाद में घनानंद और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया। बिहारी की भाषा में बुंदेलखंडी और पूर्वी का प्रभाव है। तुक के आग्रह और प्रयोग बाहुल्य के कारण पूर्वी के प्रयोग हुए हैं। बुंदेलखंडी के प्रयोग शैशव के अभ्यास के कारण सहज रूप में आए हैं। कहीं-कहीं अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भाषा को प्रेषणीय बना देता है। बिहारी की काव्य-भाषा में नाद-सौंदर्य है और वह माधुर्य गुण सम्पन्न है। माधुर्य गुण के अनुकूल शब्द चयन किया है। भाषा के अलंकरण के लिए इन्होंने यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की दृष्टि में बिहारी का भाषा पर वास्तविक अधिकार था। उनके बाद भाषा पर अच्छा अधिकार दिखाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं। आधुनिक समय में रत्नाकर ने वैसा ही अधिकार दिखाया है। इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए। भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा अधिकार रखने वाला कोई मुक्तककार नहीं दिखाई पड़ता है।

बिहारी ने केवल दो छंदों का प्रयोग किया है - दोहा और सोरठा। ये दोनों 48 मात्रा के छंद हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं। संस्कृत के मुक्तक कवि अमरूक ने शार्दूलविक्रीड़ित छंद को, प्राकृत एवं संस्कृत के अन्य मुक्तककारों ने गाथा और आर्या छंद को, बिहारी के बाद के मुक्तककारों ने सवैया एवं कुंडलिया छंद को अपनाया है। किंतु बिहारी दोहे में ही अपनी भाव-सुषमा को चित्रित करते रहे।

बिहारी के काव्य की एक बड़ी उपलब्धि है अलंकारों का निपुण प्रयोग। यद्यपि बिहारी ने किसी रीति-ग्रंथ का निर्माण नहीं किया, किंतु अलंकारों का जैसा सटीक और चुस्त प्रयोग उनके दोहों में दीख पड़ता है, वैसा बहुतेरे उन कवियों की कविताओं में भी नहीं दीखता जिनका प्रमुख लक्ष्य अलंकार-निरूपण ही रहा है। ''असंगति'' अलंकार का यह बेजोड़ उदाहरण चिरकाल से सहृदयों का कंठाहार रहा है -

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥

''उलझते हैं नेत्र, टूटता है कुटुम्ब! प्रीति जुड़ती है चतुरों के चित्त में, और गाँठ पड़ती है दुर्जन के हृदय में! प्रेम की यह अनोखी रीति है।''

बिहारी का शायद ही कोई ऐसा दोहा हो, जिसमें किसी न किसी अलंकार का प्रयोग न मिले। कहीं-कहीं तो एक साथ पाँच-छह अलंकार लिपटे हुए दीख पड़ेंगे, जैसे निम्नलिखित दोहे में हमें एक ही जगह वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, उपमा, तद्गुण, परिकर, देहली-दीपक आदि अनेक अलंकार संश्लिष्ट दीख पड़ते हैं -

हौं रीझी लखि रीझिहौ, छबिहि छबीले लाल।
सोनजूही सी होत दुति, 'मेलत मालती माल॥

बिहारी अलंकारवादी नहीं थे। उन्होने स्वच्छंद रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। प्राय: प्रत्येक दोहे में उक्ति वैचित्र्य के साथ अलंकारों की सुंदर योजना हुई है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकादि का प्रयोग अधिक हुआ है। रूपक तो बिहारी का प्रिय अलंकार है। वैसे यमक, समासोक्ति, अपह्नुति अलंकारों का भी सुंदर प्रयोग हुआ है। यमक का उदाहरण देखिए -

तो पर वारौं उरबसी सुधि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान॥

रीतिकाल में मुख्यत: तीन सम्प्रदाय प्रचलित थे - अलंकार, रस और ध्वनि। बिहारी आलंकारिक चमत्कार के अनावश्यक मोह से कहीं भी ग्रस्त नहीं हुए। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग साधन के रूप में किया है, साध्य रूप में नहीं। रस भी बिहारी का साध्य लक्षित नहीं होता। वे वस्तुत: ध्वनिवादी हैं। रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने सांकेतिक अर्थ को द्योतित किया है। अत: उनकी रुचि ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर अधिक है।

HMDC-066

15.8 सारांश

बिहारी शृंगार रस के बड़े कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में शृंगार और वियोग का विशद चित्रण किया है। उनकी कविता में रूपासक्ति, चेष्टाओं और प्रेम क्रीड़ा पर ही ज्यादा बल दिया गया है। वे प्रेम को चौगान का खेल समझते थे जिसमें दाँव-पेंच, लुका-छिपी का महत्व होता है। उनकी कविता में स्थापत्य और शिल्प और पांडित्य का ज़ोर ज्यादा है अनुभूति का कम। इनकी कविताओं को पढ़कर पाठक चमत्कृत तो होता है परंतु इससे उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव नहीं पड़ता। बिहारी के बारे में आचार्य शुक्ल ने लिखा है :

बिहारी की कृति का मूल्य जो अधिक आंका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए - उनके पक्षों को समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते है, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता।

बिहारी की कविता के सीमित फलक से हम निराश हो सकते हैं, उनकी जीवन-दृष्टि से असहमत हो सकते हैं। किंतु उन्होंने रूप, चित्रों के कनक-कटोरों में इतना लावण्य उडेल दिया है कि काव्य-रसिक कभी उनकी उपेक्षा नहीं कर पाएंगे।

15.9 प्रश्न/अभ्यास

1. बिहारी की कविता में चित्रित संयोग और वियोग शृंगार की खूबियों और खामियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है।' इस कथन के आलोक में बिहारी की कविता का विश्लेषण कीजिए।

NMDC-066

इकाई 16 घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना

इकाई के रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 रीति काव्य परंपरा में घनानंद का महत्व
16.3 घनानंद का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण
16.4 भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास
16.5 घनानंद की प्रेमानुभूति में स्वच्छंदता
16.6 घनानंद का काव्य-कौशल
16.7 घनानंद की काव्य-भाषा
16.8 सारांश
16.9 अभ्यास/प्रश्न

16.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने बिहारी के काव्य का अध्ययन किया। इस इकाई में हम घनानंद के काव्य की विशेषताओं को जानने का प्रयास करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- रीतिकाव्य परंपरा में घनानंद का महत्व बता सकेंगे;
- घनानंद के प्रेम संबंधी दृष्टिकोण का अध्ययन कर सकेंगे;
- घनानंद की प्रेमानुभूति में स्वच्छंदता के दर्शन कर सकेंगे;
- घनानंद के काव्य कौशल से परिचित हो सकेंगे; और
- घनानंद की काव्य-भाषा पर विचार कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

घनानंद रीतिकाल के एक विलक्षण कवि हैं। रीतियुग में कविता हृदय की नैसर्गिक अनुभूति का विषय न रह गई थी। वह आश्रयदाताओं के मनोविनोद का साधन-मात्र बन गई थी। कविगण अपनी कवित्व-शक्ति पर विश्वास खोकर 'आचार्य' कहलाने की महत्वाकांक्षा से पीड़ित हो रहे थे। उस युग में घनानंद अपनी पीड़ा से रोते हैं, किराए के आँसू नहीं बहाते। रीतिकाव्य-परंपरा में घनानंद का अपना महत्व है। उनका प्रेम संबंधी दृष्टिकोण रीति कवियों से सर्वथा भिन्न है। उनकी प्रेमानुभूति स्वच्छंद है। इस स्वच्छंद प्रेमानुभूति के कारण उनका काव्य-कौशल और उनकी काव्य-भाषा सर्वथा नयी और सर्जनात्मक दिखाई पड़ती है। आगे हम इन्हीं बातों की विस्तार से चर्चा करते हुए रीतिकाल के विलक्षण कवि घनानंद की विशिष्टताओं को रेखांकित करेंगे।

16.2 रीति काव्य परंपरा में घनानंद का महत्व

रीतिकालीन काव्यादर्श काव्य के बाह्य रूपों को सँवारने-सजाने के ही थे। अनुभूति पक्ष पर ज़ोर नहीं था। अनुप्रासमयी शब्दावली, छंदों में यति-लय का सुष्ठु विधान, दोषों का परिहार आदि गुण श्रेष्ठ कविता के लिए अनिवार्य माने जाते थे। रीतिकालीन कवि साहित्यशास्त्र की बंधी-बँधाई सरणियों का अवलम्बन लेकर शृंगार-रस का उपस्थापन कर रहे थे। वस्तुतः रीतिकालीन कविता साहित्यशास्त्र की रूढ़ियों पर अत्यधिक आश्रित और स्रष्टा के व्यक्तित्व के तिरोधान की कविता है। उसमें आँखों पर कम, कानों पर ज्यादा भरोसा किया गया है। इसके विपरीत, घनानंद ने स्वीकार्य अनुभूतियों पर विश्वास किया और अपने हृदय की भोगी हुई पीड़ा को अपनी कविताओं में रूपायित किया। वे ऐसे लोगों पर दया प्रकट करते हैं जो शास्त्र या बुद्धि की आँखों से प्रेम के हर्ष-विषाद का अनुमान किया करते हैं। प्रेमानुभूति की साक्षी तो उनकी ही आँखें हो सकती हैं जिनके हृदय में चाह की मीठी पीर

उठती हो। रीति कवि भावों को बुद्धिगम्य समझकर उसी से उन्हें काव्य निबद्ध करते थे। घनानंद ने सच्ची अनुभूति को बुद्धि से परे सिद्ध किया है -

जौ लौं जागै न भूल, तौ लौं सोवै सुरति-सुख।
वही होय अनुकूल, तौर भूलै सुख-सुधि सवै।।

प्रेमानुभूति में बुद्धि दासी है और रीझ पटरानी, तत्व का बोध बौरानि में ही होता है। घनानंद बुद्धिवादी कवियों के प्रेम-कथन को नीर-मंथन के समान निष्फल बताते हैं। उन्हें वाणी के रहस्य से अनभिज्ञ, ठंडे हृदय के तथा जड़ कहा है। वे लोग कृत्रिम प्रेम का निर्वाह करते हैं। उनसे कवि का मेल नहीं हो सकता

बात के देसतें दूरि परें जड़ता नियरे सियरे हिय दाहैं।
चित्र की आँखिन लीने विचित्र महारस रूप सवाद सराहैं।
नेह कथैं, सठ नीर मथैं, हठ कै कठप्रेम को नेम निबाहैं।
क्यों घनआनंद भीजै सुजाननि यौं अमिले मिलिबो फिरि चाहैं।।

16.3 घनानंद का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण

घनानंद मूलतः एक प्रेमी कवि थे। जिस युग में घनानंद ने लेखनी उठायी, उस युग की प्रवृत्ति भी शृंगारिक थी। उस युग के अधिकांश कवियों ने न केवल सैद्धांतिक धरातल पर शृंगार की रसराजता घोषित की, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी इसी के अंग-उपांगों की उपासना की। फिर भी, घनानंद और उनके समसामयिक अन्य कवियों में बड़ा भारी अंतर है जिसकी चर्चा अभी-अभी की गई है। बहरहाल डॉ0 नगेन्द्र ने रीतिमार्गीय प्रेम शृंगार की चार मुख्य विशेषताएँ बताई हैं। रीतिमार्गीय प्रेम शृंगार का मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। वह रसिकता शुद्ध ऐंद्रिक अतएव उपभोग प्रधान है। इसीलिए वासना को अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है। उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया, न उदात्त और परिष्कृत करने का। यह शृंगार उपभोग प्रधान एवं गार्हस्थिक है। यह एक ओर बाज़ारी इश्क से भिन्न है दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता भी प्रायः उसमें नहीं मिलती। इसीलिए इसमें तरलता और छटा अधिक है, आत्मा की पुकार और तीव्रता कम।

घनानंद के प्रेम में गांभीर्य हैं। बिहारी की तरह वे प्रेम को चौगान का खेल नहीं मानते बल्कि वे प्रेम को एक सीधा स्नेहपूर्ण मार्ग मानते हैं जहाँ तनिक भी चतुराई के लिए स्थान नहीं है। प्रेम के पथ पर वे ही सच्चे लोग चल सकते हैं जो अपना सब कुछ गंवाने के लिए तैयार होते हैं। जो कपटी हैं, बुरे आचरण वाले हैं वे इस रास्ते पर निर्भय होकर नहीं चल सकते। प्रेम की बस यही एक डगर है, दूसरी कोई नहीं -

अति सूधों सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरी आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै ~ छटाँक नहीं।।

इन पंक्तियों में प्रेम के सत्यनिष्ठ मार्ग के साथ-साथ प्रेमी की निष्ठुरता का भी जिक्र आया है जो प्रिया का मन तो हर लेता है परंतु अपना मन देने में संकोच करता है। यहाँ प्रिय के समक्ष प्रेम का आदर्श रखकर कवि दिखा रहा है कि वह इसका पालन नहीं कर रहे हैं। प्रेम का मार्ग तो सीधा और सरल है। इसपर अज्ञानी से अज्ञानी व्यक्ति भी चल सकता है।

असल में घनानंद का प्रेम भावात्मक है, शारीरिक नहीं। संयोग में शरीर सहवास की चेष्टाओं का तथा वियोग में उसके हाव-भाव का वर्णन कवि ने नहीं किया है। अन्यत्र हृदय के भावों का ही विश्लेषण किया है। प्रिय के बिछुड़ने पर तथा मिलने पर प्रेमी शांति का अनुभव नहीं करता - **बिछुरै मिलै प्रीतम सांति न मानै।** कभी दैवगति से स्वप्न की भाँति प्रिय-प्रि मा का मिलन भी होता है तो मनोरथों की भीड़ भर जाती है। फलतः मिलकर भी मिलाप नहीं होता

NMDC-066

कबहूँ जौ दई गति सौं सपनौ सो लखौं तो मनोरथ भीर भरै।
मिलिहू ने मिलाप मिलै तन कौ उर की गति क्यों करि ब्यौरि परै।।

प्रिय के रूप का साक्षात्कार कर लेने से भी प्रेमी प्रसन्न नहीं होता। भगवान की छटा देखकर जैसे भक्त आश्चर्यचकित होता है उसी प्रकार प्रेमी की बुद्धि आश्चर्यचकित हो जाती है। मति की गति रुक जाती है, कहने का सामर्थ्य नहीं रहता -

क्यों करि आनंदघन लहियै संजोग सुख,
ललसानि भीजि रीझि बातै न परै कहीं।

रूप दर्शन के समय बाह्य इंद्रियाँ संतुष्ट होकर हर्ष लाभ करें, इसके पूर्व ही हृदय विविध भावों का उद्गम, दुख का घूँघट उठा देता है। प्राण उसी में घुटने लगते हैं।

प्रियतम का साक्षात्कार कर प्रिय बेसुध हो जाता है। घनानंद के सौंदर्य चित्रण में भी एक गरिमा है जो पाठक को रस विभोर कर देता है :

झलकै अति सुंदर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलन मैं छबि फूलन की बरषा, उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कल-कंठ बनी ज़ल जावलि ह्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वैं।।

प्रियतम का गोरा मुख अत्यंत सुंदर लग रहा है, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें मानो कानों को स्पर्श करना चाहती हों। जब वह हँसती है तो उससे सौंदर्य रूपी फूल की वर्षा होती है और वह सीधे हृदय पर गिरती है। उसकी लटें गालों से खेलती प्रतीत होती हैं। उसके गले में मोतियों की माला शोभायमान है। उसके शरीर का प्रत्येक अंग जगमगा रहा है, लगता है अभी सौंदर्य धरा पर टपक पड़ेगा। सौंदर्य का इतना सहज और यथार्थ चित्रण रीतिकाल के दूसरे कवि में नहीं मिल सकता।

संयोगकाल में घनानंद की अनुभूति रीतिमार्गी कवियों की भाँति कुंठित नहीं होती। वह और तीक्ष्णतर होती जाती है। उसका कारण प्रेम भावना की भावात्मकता है। वियोग में और लोग शरीर-संयोग के सुखों का स्मरण करते हैं किंतु घनानंद आंतरिक पीड़ा की विविध अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ मौन में आकुल प्राण पुकारते हैं -

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै
लड़कीली बानि आनि उर मैं आरति है।
वहै गति लैन औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन, हियरा तें न टरति है।
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनंदनिधान प्रानप्रीतम सुजानजू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करती है।।

यहाँ प्रिय की मुस्कान, मधुर वाणी, ललक युक्त मुद्रा की स्मृति का चित्रण हुआ है। प्रिय का यह रूप उसके हृदय में बसा हुआ है। उसकी बाँसुरी बजाने की मुद्रा, उसकी हँसी हृदय से चाहकर भी हटती नहीं। उसकी चतुराई से देखने की कला, उसका रंगीलापन क्षण मात्र को भी भुलाया नहीं जाता। आनंद प्रदान करने वाली प्राण प्रियतम सुजान की याद आने से प्रिय अपने होश हवास खो बैठता है। प्रेम के प्रति यह पूर्ण समर्पण ही घनानंद की विशिष्टता है।

रीतिकाव्य का प्रेम सामाजिक परंपराओं से मुक्त नहीं था। लेकिन घनानंद ने सामाजिक बंधनों की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं की। उन्होंने वेश्या से प्रेम किया। उनका प्रेम गार्हस्थिक नहीं है। उसमें समाज की मर्यादा नहीं है, जीवन की स्वच्छंदता है। घनानंद प्रेम-व्यापार में अंतर्मुख थे, जबकि रीतिमार्गी कवि बहिर्मुख। घनानंद मौन होकर विरह-व्यथा सहते हैं। ठाकुर ने भी प्रेमानुभूति के हृदय में ही गुप्त रहने की बात बार-बार कही है। नायिका-भेद रीतिकाल की सर्वोपरि विशेषता थी। किंतु घनानंद ने नायिका के

HMDC-066

दों में अपनी काव्य-सरस्वती को नहीं फँसाया। प्रेमी-प्रेमिकाओं के भावों का विश्लेषण ही इनका विषय है। रीतिकाव्य में सम प्रेम वर्णित हुआ है। किंतु घनानंद ने प्रेम की उदात्तता तथा उच्चता व्यक्त करने के लिए विषम प्रेम को ही अपनाया है -

अधिक बधिक तें सुजान, रीति रावरी है,
कपट-चुगौ दे फिरि निपट करौ बुरी।
गुननि पकरि लै, निपाँख करि छारि देहु,
मरहि न जियै, महा विषम दया-छुरी।
हौं न जानौं, कौन धौं ही यामैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे अंतरकथा दुरी।
कैसें आसा-द्रुम पै बसेरो लहै प्रान-खग,
बनक-निकाई घनआनँद नई जुरी।।

घनानंद का प्रेम एकतरफा है, इसलिए उसमें पीड़ा है। अब ऊपर उद्धृत पद ही देखिए। यहाँ प्रिय की तुलना एक बहेलिए से की गई है जो कपट करता है। घनानंद इसे बड़ी बुरी बात मानते हैं। प्रिय ने गुणों के जाल से पकड़कर विरही को पंखहीन कर दिया है। अब वह न मर पाती है न जी पाती है। पता नहीं पीड़ा पहुँचाने से तुम्हें क्या मिलता है? तुम मेरा हृदय का हाल क्यों नहीं पूछते। बहेलिया तो पक्षी को मार देता है पर आपने तो न मारा न ही जिंदा रहने दिया। आपकी यह अंतरकथा कुछ समझ में नहीं आती। पक्षी आकर्षक चारे को देखकर पेड़ पर कैसे बैठा रह सकता है। इस आसरे पर तो वह बैठा नहीं रह सकता कि प्रियतम स्वयं आएँगे।

रीतिमार्गी कवियों में शृंगार रस के संयोग पक्ष ने अधिक विस्तार पाया है। वियोग का उन्होंने थोड़ा-बहुत वर्णन किया है, पर वह मार्मिक नहीं है। घनानंद के यहाँ तो वियोग ही वियोग है। संयोग का भी वर्णन किया है तो उसमें वियोग विद्यमान रहता है। उस विरह में रहस्य भावना का भी अंश रहता है। रीतिमुक्त कवियों में घनानंद की तरह आलम के यहाँ भी वियोग प्रांचुर्य दृष्टिगत होता है।

आचार्यों ने संयोग शृंगार में अवसाद का वर्णन निषिद्ध माना है - **'संयोग आलस्योग्रयौ जुगुप्साः वर्ज्याः** (रसतरंगिणी) पर घनानंद की स्वच्छंद प्रवृत्ति इसे नहीं मानती। प्रिय बहुत दिनों के विरह के बाद मिला है। विरही को निश्चित नहीं होता कि यह संयोग है या छल। इस प्रकार मिलने पर भी कुशल 'अनमिले' की ही है -

देखें अनदेखनि-प्रतीति पेखियति प्यारे,
नीठ न परत जानि दीठि किंधौं छल है।
दीपति-समीप की बिछोह माहिं जोहियत,
आरसी-दरस लौं परम ध्यान जल है।
निपट अटपटी दसा सों चटपटी-बीच,
बूड़त विचारो जीव थाह क्यौं हूँ न लहै।
कहा कहौं आनँद के घन जानराय हौ जू,
मिलेहूँ तिहारे अनमिले की कुसल है।

जब सुजान का संयोग होता है तो बुद्धि आश्चर्य में डूब जाती है। फलतः प्रिय का पूर्ण दर्शन नहीं हो पाता। संयोग-काल स्वप्न-सा टल जाता है। उसके बाद विरह आता है जो सौ गुना बढ़कर हृदय को पीड़ित करता रहता है। वस्तुतः घनानंद ने संयोग में वियोग की अभिन्नता का ही नहीं समकालीनता का भी अनुभव किया है। अतः वियोग प्रत्येक अवस्था में बना रहता है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि घनानंद का प्रेम गार्हस्थिक नहीं है। बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार की वेश्या सुजान के साथ उसका प्रेम होता है पर इसमें स्थिरता चरम कोटि की दिखाई गई है। प्राणांत तक प्रेमी प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता। मरते समय भी प्राण सुजान का संदेश लेकर ही बाहर जाना चाहते हैं। रीतिमार्गी प्रेम में जो तरलता और छटा है उसके स्थान पर यहाँ तीव्रता और आत्मा की पुकार मिलती है। जब प्रिया का मिलन होता है तो लाखों प्राण न्योछावर करने की अभिलाषा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह संयोग के हर्ष की जगह विषाद उत्पन्न करती है। यह सब आसक्ति की तीव्रता के कारण है। वियोग में तीव्रता और अधिक मिलती है। वेदना की मार्मिकता और मौन सहिष्णुता उसकी तीव्रता का ही परिचायक है -

NMDC-066

अंतर हौं किधौ अंतर हौं, दृग फारि फिरौं कि अभागिन भीरौं।
आगि जरौं, अकि पानी परौं, अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जौ घनआनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरती मैं धसौं कि अकासहि चीरौं।।

वस्तुतः घनानंद की प्रेम भावना व्यथा प्रधान है। उस व्यथा का स्वरूप आंतरिक है। प्रेमी एक प्रकार की बेबसी में फँसा हुआ दृष्टिगत होता है। प्रिय की प्रीति जो थाती की तरह छाती पर विराजमान थी उसी का ध्यान कर विरही के नेत्र आँसू बरसाने लगे। तब कवि की अंतश्चेतना से ऐसे स्वर निकलने लगे जो सचमुच व्यथित प्राणी की पुकार हैं -

तब तौ छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महा दुख दोष भरे।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख-साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे।।

कहना न होगा कि उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त प्रेम रीति कवियों द्वारा वर्णित प्रेम से भिन्न हैं। घनानंद की दृष्टि में रसिकता वेदना द्वारा परिलक्षित होती है। व्यथित हृदय की पुकार ही श्रेष्ठ कविता है। इस विषय में वे भवभूति तथा शेली के समान हैं। यदि रोना नहीं आता हो तो गाना भी रोने के समान है। गोपियों की सिसक और उनकी कसक जब तक हृदय में नहीं आई तब तक रसिक कहलाना व्यर्थ है। रसिकता कुछ और ही चीज़ है -

गोपिन की सिसक कसक जौ न आई मन
रसिक कहाए कहा रस कछु औरई।

इस व्यथा-प्रधान दृष्टि के कारण ही कवि ने संयोग में भी वियोग के दर्शन किए हैं।

16.4 भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास

सर्वविदित है कि घनानंद बादशाह मुहम्मदशाह के मीर-मुंशी थे। इनका मुहम्मदशाह के दरबार में आने-जाने वाली एक वेश्या 'सुजान' से प्रेम था। दरबारियों के प्रपंच में आकर बादशाह ने उन्हें देश-निकाला दे दिया। घनानंद ने दिल्ली छोड़ते समय चाहा कि सुजान भी उनके साथ चले। लेकिन वह उनके साथ न जा सकी। घनानंद को इससे बड़ी ठेस लगी, सांसारिकता के प्रति उनके मन में विरक्ति हो गई और उन्होंने वृंदावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। पर अपना सर्वस्व त्यागकर भी घनानंद सुजान का नाम न त्याग सके। प्रेम का धरातल बदल गया, लेकिन आलम्बन न बदला। अपनी प्रिया के नाम को ही उन्होंने आराध्य का नाम भी बना लिया और उसके विरह में तन्मय होकर कीर्त्तन करने लगे।

घनानंद की दृष्टि में मानवीय प्रेम ईश्वरीय प्रेम का ही लघुतम अंश है। जिस प्रेम-समुद्र में राधा और कृष्ण विवश होकर स्नान-केलि करते हैं उसी की तरल तरंग से कोई बिंदु छूटकर लोक में आ गया है। वही प्रेम है। इसकी चरम परिणति प्रेमी और प्रिय का अभेद है। इसकी पदवी ज्ञान से भी ऊँची है। भूलने से इस पंथ पर चलते हैं, सुधि से थक जाते हैं। इसका मार्ग अत्यंत सरल-सीधा है। 'सयानप का बाँक' यहाँ नहीं होता। सीधे-सरल व्यक्ति इसका पार पा जाते हैं, कपटी झिझकते रहते हैं। 'प्रेम पद्धति' में इसका स्वरूप परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि प्रेम का सर्वोत्तम अधिष्ठान गोपिकाएँ हैं। गोपिकाओं ने अपने प्रबल प्रेम का ओज इससे प्रकट कर दिया है कि भगवान श्रीकृष्ण भी उनके आगे नाचते हैं। प्रेम साधना का सर्वोत्तम स्थान ब्रज है। ब्रज-रज के स्पर्श से प्रेम-तत्व का लाभ अनायास ही हो जाता है। प्रेम का रूप अमल और अपूर्व होता है। इसकी थाह लेने में मन, बुद्धि तथा विचार थक जाते हैं।

घनानंद की प्रेम-भावना में अतींद्रिय सौंदर्य के रहस्यमय संकेत विद्यमान हैं। प्रेम का प्रारंभिक रूप शारीरिक है। रूप सौंदर्य पर इंद्रियों की रीझ, विस्मय आदि के भाव अनुभूत हुए हैं। पर इसका आगे भावना में विकास हुआ है। प्रिय भले ही नाम से राधाकृष्ण हो पर वे स्वभाव में 'आनंद के घन' तथा 'सुजान' है। बादलों की तरह ही प्रिय सर्वत्र व्याप्त है। प्राणों की वह गति है। बुद्धि, स्मृति, नेत्र और

NMDC-066

वाणी में उसका वास है। प्रिय के गुण गाते-गाते बुद्धि उसी में उलझ जाती है। प्रिय आँखों से दिखाई नहीं देते। यद्यपि सब जगह वह छाये हुए हैं। उन्हें पाकर प्रेमी खोये से हो जाते हैं। एक ही बास बसे हैं फिर भी दोनों को एक-दूसरे का परिचय नहीं हो पाया। इन उक्तियों में ब्रह्म की व्यापकता तथा उसे प्रेम द्वारा प्राप्त करने की जीव की अभिलाषा का रहस्य प्रतीत होता है। प्रिय और प्रेमी के साथ रहने का अर्थ जीव और ब्रह्म का शरीर में होने वाला एकाश्रय सहवास प्रतीत होता है-

भले ही रसीले अरसील सुनि हूजिए व, गुननि तिहारे उरझयौं है मन गाय़ गाय।
काननि सुनो है तैसे आँखिन हूँ देखे जाते, दीखत नहीं औ सब ठाँम्वर हैं छाय छाय।
ऐसे घन आनंद अचभे सों भरे हौं भारी, खोए से रहत जित तित तिम्हैं पाय पाय।
एक बस बसे सदा बालम बिसारी पै न, भई क्यों चिहनारि कहूँ हमैं तुम्हें हाय हाय।।

अपनी कृति 'प्रीति-पावस' में घनानंद लिखते हैं कि आनंदघन के निकट सदा प्रेमानंद का पावस ही बना रहता है। वहाँ चाहों की वर्षा होती है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है तृषा की अग्नि त्यों-त्यों प्रचंड होती जाती है। 'इश्कलता' में फारसी ढंग से अनेक प्रेमापलंभ प्रकट किए गए हैं। इसके अंत में कवि कहता है कि आनंद के घन छैल की छवि ध्यान धर देखेगा वही 'इश्कलता' के अर्थ को समझ सकेगा। इसे जो चित्त देकर बाँचेगा उसे वृंदावन के धाम-सुख की उपलब्धि होगी -

आनंद के घन छैल की छवि निरखै धरि ध्यान।
इश्कलता के अर्थ को समझै चतुर सुजान।।
इश्कलता ब्रजचंद को जो बाँचै दै चित्त।
वृंदावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त।।

इससे स्पष्ट है कि कवि के प्रेम का विषय कोई संसारी प्राणी नहीं परमेश्वर है।

घनानंद ने लौकिक प्रेमलीला को अलौकिक प्रेमलीला का कण कहा है, किंतु उन्होंने इसे कृष्ण-प्रेम में छिपा रखा है। आचार्यों ने भी कृष्ण की प्रेम-लक्षणा भक्ति का विकास लौकिक क्रीड़ा से सम्बद्ध रखकर किया। इसलिए सूफियों की 'प्रेम की पीर' को उसमें लय हो जाने का अवसर मिल गया। घनानंद ने सुजान के प्रति अपने प्रेम (इश्कमजाजी) को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेम-लीला (इश्क हकीकी) का क्षुद्र अंश कहा है -

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै,
विचार बापुरो हहरि बार ही तें फिरि आयौ है।
ताही एकरस है बिवस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है।
ताकी काऊ तरल तरंग-संग छूटयौ कन,
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घन आनँद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है।।

संसार में फैला प्रेम-व्यापार उसी प्रेम-महोदधि का एक कण है जिसमें राधा-कृष्ण जल केलि किया करते हैं। वही कण घनानंद और सुजान के प्रेम में भी लगा हुआ है। सूफियों की भाँति घनानंद ने लौकिक प्रेम में कई स्थानों पर ब्रह्म प्रेम का आभास भी दिया है -

उघरी जग छाय रहे घनआनँद चातिक लौं तकियै अब तौ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय, तुम्हें धरनी मैं धसौं कि अकासहि चीरौ ।।

में सूफियों का ब्रह्म-विरह व्यक्त हुआ है। इसलिए घनानंद को रहस्योन्मुखी प्रेमी कवि कहना ही **उचित** होगा।

ध्यातव्य है कि घनानंद की प्रेमानुभूति का स्वरूप फारसी कवियों की तरह लौकिक ही है। राधा और कृष्ण तो तत्कालीन काव्य-परंपरा के कारण काव्य में गृहीत हुए हैं। वस्तुतः सखी सम्प्रदाय, फारसी साहित्य तथा सूफी कवि इन तीनों की रहस्य भावना से कवि ने प्रेरणा ली है। इसके अतिरिक्त, इनकी व्यक्तिगत भावना भी इसमें प्रकट हुई **है**। उपमानों को प्रतीक के रूप में उपस्थित कर रहस्य भावना

HMDC-066

का समावेश किया गया है। घनानंद ने ऐसा ही किया है। प्रतीक पद्धति अपनाने के कारण इनकी रहस्य शैली भारतीय शैली की अपेक्षा फारसी शैली के निकट है। लेकिन इन्होंने इसकी ज्यो की त्यों अनुकृति नहीं की। फारसी का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी घनानंद ने भारतीय रंग का सर्वथा त्याग नहीं किया है। फारसी काव्य में जहाँ विकलता आशिक (नायक) की दिखाई जाती है, वहाँ घनानंद की नायिका ही प्रिय की निठुराई से पीड़ित है।

जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौं।
तीरनि मारि के पीर न पावत एक सो मानत दोइबो रागौं।
ऐसी बनी 'घनआनँद' आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौं।
प्रान मरैंगे भरैंगे बिथा पै अमोही सों काहू को मोह न लागौं।।

16.5 घनानंद की प्रेमानुभूति में स्वच्छंदता

घनानंद अपने मनोवेगों के प्रवाह में बहकर कविता लिखा करते थे। इनकी दृष्टि में काव्यशास्त्र के नियम-उपनियम नहीं रहते थे। इसलिए इनके काव्य में प्रेम की जीवनगत स्वच्छंदता तथा काव्यगत स्वच्छंदता दोनों के दर्शन होते हैं। घनानंद की दृष्टि प्रेमभाव की अनुभूति पर अधिक रहती थी। उसका वे काव्य में चित्रण करते थे। फलतः इनकी अंतर्दृष्टि प्रेमानुभूति को पहचानने में बड़ी व्यापक और सूक्ष्म हो गई। घनानंद का प्रेम केवल नारी के स्थूल सौंदर्य तक ही सीमित न रहा। वह ईश्वर पर्यन्त ऊँचा उठा। इनकी रचनाओं में अश्लील मुद्राओं व अश्लील चेष्टाओं के वर्णन नहीं मिलते। संयोग में मनोदशाओं के विविध रूपों का चित्रण किया गया है। घनानंद के यहाँ प्रेम का बाह्य पक्ष इतना प्रबल नहीं है जितना आंतरिक पक्ष क्योंकि उनकी दृष्टि ही आंतरिक है।

कंत रमै उर-अंतर में सु लहै नहीं क्यौं सुखरासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आँगुरी ते जु बियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैन-दिना बिना जान सुततंर।
जानै वेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर।।

प्रिय हृदय में बसे हुए हैं फिर भी विरही को सुख का अनुभव नहीं हो रहा। विरही की विरह-व्यथा देखकर वे भी दाँतों तले उंगली दबाते हैं जो विरह-वेदना की आँच में पके हुए हैं। असल में स्वच्छंद मनोवृत्ति वाले प्रिय के विरह में जो दुख मैं रात-दिन सहन कर रही हूँ उसे रात-दिन ही समझ सकते हैं, दूसरा कोई उसे समझ नहीं सकता। अगर कोई इस विरह को बताने की कोशिश करे भी तो वह वैसा ही होगा जैसा दिन और रात में अंतर होता है। विरही विरह से पीड़ित है परंतु उसके विरह को वह क्या कोई भी व्यक्त नहीं कर सकता। इसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति हृदय की है और इसे हृदय ही अनुभव कर सकता है। इसके वर्णन के लिए कोई शब्द नहीं बने हैं। चुपचाप सहते रहो, पर मौन रहो - यही तो घनानंद के प्रेम का आदर्श है।

रीतिमार्गी कवियों के प्रेम चित्रण में जीवन की अनुभूति नहीं है। वे प्रेमी, भक्त और सबसे परे कवि और आचार्य होते थे। इसलिए स्वच्छंद प्रेम के ऐकांतिक रूप का अपने काव्य में चित्रण नहीं कर सके। चूँकि प्रेम इनकी अनुभूति नहीं थी, इसलिए न तो उसमें मनोवेगों का आवेग मिलता है, न जीवनगत स्वच्छंदता ही प्राप्त होती है। दूती, परिजन, सखी आदि से घिरी नायिका के हृदय की अंतर्दशाओं का उन्हें परिचय नहीं था। दूसरे, दृष्टि की व्यापकता के अभाव में प्रेम केवल नायिका का तक ही सीमित रहता है। उसमें किसी प्रकार की उच्चता के दर्शन नहीं होते। रहस्य भावना का भी उसमें अभाव दिखाई पड़ता है। रीतिमार्गी कवियों का प्रेम तो राधा-कृष्ण के पास पहुँचकर भी अपनी स्थूलता नहीं छोड़ता।

घनानंद ने प्रेम व्यापार के कृत्रिम रूपों का त्याग किया है। उनकी चेतना विरह और मिलन दोनों में प्रेमियों के हृदयों के अंतस्थलों को उद्घाटित करने में ही लगी रहती है। घनानंद का प्रेमी तो स्वयं ही अपनी प्रेम भावना को नहीं पहचान पाता। वह कहे किससे? यहाँ तो **बेझत बूझत बौराई सूझे** है।

रीतिमार्गी कवि बुद्धि के बल से ही भाव का अनुमान करते थे और उसी के बल से प्रेम के बाह्य रूप विधान का संधान करते थे। घनानंद ने प्रेम को हृदय की शुद्ध, निश्छल भावधारा माना है, बुद्धि का उसमें गौण स्थान है। वे हृदय को प्रमाण मानते हैं। रीतिमार्गी कवि सखी दूती आदि द्वारा प्रेम निवेदन

करते हैं। वे प्रेम निवेदन की सामाजिक शास्त्रीयता की रक्षा करते हैं। किंतु घनानंद अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण उसकी उपेक्षा करते हैं। प्रेमानुभूति कवि की व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित है, इसलिए उसे वह स्वयं ही प्रेमी बनकर प्रकट करता है।

रीतिमार्गी कवि संयोग में अंतर्मुखी तथा वियोग में बहिर्मुखी हो जाते हैं। इसके विपरीत, घनानंद संयोग में तो अंतर्मुखी रहते ही हैं, वियोग में यह अंतर्मुखता और बढ़ जाती है। वे ऊहात्मक शैली में विरह-व्यथा की नाप-जोख नहीं करते। उनका वियोग बड़ा व्यापक है। वह संयोग में भी बना रहता है। रीतिमार्गी लोकानुभूति का वर्णन करते थे, किंतु घनानंद ने आत्मानुभूति को काव्य का विषय बनाया है। घनानंद के स्वच्छंद प्रेम का चरम उत्कर्ष विषमता में ही निष्पन्न होता है, जबकि रीतिमार्गियों ने सम प्रेम को अपनाया है।

16.6 घनानंद का काव्य-कौशल

घनानंद की कविता में अभिधा कम लक्षणा और व्यंजना अधिक है। उनकी कविता के मर्म तक पहुँचने के लिए उसके लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तक पहुँचना अनिवार्य है। अपनी कविता की विशिष्टता स्वयं घनानंद ने इस सवैये में व्यक्त की है -

उर-भौन में मौन को घूघँट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रसरूप मनी।
रसना-अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान घनी।।

इस सवैये में घनानंद ने अपनी कविता की विशिष्टता बताई है। घनानंद कहते हैं कि मेरी कविता में काफी कुछ मौन है जिसे समझने के लिए हृदय के अंदर प्रविष्ट करना होगा क्योंकि कविता का वास वहीं है। इसीलिए वे कहते हैं कि कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाल कर अपने को छिपाए हुए है। ऐसा नहीं कि इसमें भौतिक जगत का चित्रण नहीं हुआ पर जो भी है वह कोमल और सुंदर है। इसमें शब्दों का नहीं बल्कि उसके अर्थ का महत्व है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ इसका गुण है। इसमें अलंकार भी है। इसमें रस भी है। यह कविता जीभ और कान तक ही जाकर नहीं रुक जाती बल्कि कान की गली से होती हुई यह चित्र हृदय की शैय्या तक पहुँचती है। इस कविता को कोई सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है। यहाँ घनानंद स्पष्ट रूप में कहना चाहते हैं कविता शब्दों का खेल नहीं है। भावानुभूति उसकी प्रमुख विशेषता है जिसका आनंद सहृदय ही ले सकता है।

घनानंद की काव्य-शैली के दो भाग किए जा सकते है - वक्र तथा ऋजु। भक्ति संबंधी रचनाओं में ऋजु तथा रसात्मक रचनाओं में वक्र शैली का प्रयोग किया गया है। ऋजु शैली में संश्लिष्ट रूप में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो वक्र शैली में नहीं मिलता। भावों की मार्मिकता तथा गंभीर प्रभावशीलता वक्र शैली के गुण हैं। वक्रता का आधार लक्षक भाषा है। वक्र शैली के दोनों भेद - संश्लिष्ट और विश्लिष्ट घनानंद की काव्य-कला में दिखाई पड़ते हैं। जहाँ विचारों की प्रचुरता है, वहाँ कवि कम-से-कम शब्दों में उन्हें व्यक्त करना चाहता है। इन स्थलों में शैली संश्लिष्ट हो गई है। संश्लिष्टता भाषा की उतनी नहीं है जितनी विचारों की। ऐसी रचनाएँ अपेक्षाकृत कठिन भी हैं। अनुप्रासादि शब्दालंकारों का लोभ भाषा को और क्लिष्ट तथा संश्लिष्ट कर देता है। **जैसे**

सोभा-लोभ-लागि अंग-रंग-रंग प्रीति पाग,
जागि-जागि नेंको न निमेष टेकतें टरी।
बोलनि, चितौनि, चारू ढोलनि, कपोलनि सों,
चाहि चाहि रंक लों सु संपति हिये धारी।।

जहाँ इस प्रकार का कोई कारण क्लिष्टता का नहीं है वहाँ सरल भाषा में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है। शैली की मार्मिकता जितनी इस सरल-साधारण रूप में व्यक्त हुई है उतनी संश्लिष्ट रूप में नहीं। संश्लिष्ट शैली रीति परंपरा का अवशेष जैसी लगती है। वह बुद्धि को जगाकर विचारों की गहराई में पाठक को व्यस्त करती है। पर साधारण शैली हृदय को सीधा स्पर्श करती है और उसे ऐसे भावों में डुबा देती है जो परिचित से हैं। जैसे -

HMDC-066

लैही रहे हो सदा मन और को दैवो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुख त्यागे सँकोच र सोच सुखारे।
कैसो संजोग बियोग धौं आटि फिरौ घनआनँद ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब ही जब होहु धरीक हू आप तें न्यारे।

घनानंद की शैली का आंतिरक रूप भाव-प्रधान है, विभाव-प्रधान या वस्तु-प्रधान नहीं। भावों तथा हृदय की अंतर्दशाओं का प्रत्यक्ष वर्णन है। इनमें रमणीयता तथा अनुभूति योग्यता लक्षणा द्वारा उत्पन्न होती है। अभिलाषा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

रस सागर नागर स्याम लखौं अभिलाखनि धार मँझार बहौं।
सुन सूझंत धीर को तीर कहूँ पचिहार कै लाज सिवार गहौं।

यहाँ अभिलाष का भाव 'धार' उपमान का, 'धीर' भाव का 'तीर' तथा लज्जा भाव 'सिवार' का रूप धारण कर प्रत्यक्ष हो जाते हैं। फलतः अभिलाषा-मग्न व्यक्ति का जलमग्न व्यक्ति के समान चित्र बन जाता है।

घनानंद की शैली में रहस्य भावना की भी झलक कहीं-कहीं प्राप्त होती है। प्रस्तुत के भाव या व्यापारों के वर्णन में परमेश्वर की व्यापकता, अंतर्यामिता, एकता आदि गुणों के संकेत किए गए हैं। प्रिय आनंदघन के दर्शन के समय प्रेमी उनके तेज से हतप्रभ होकर उन्हें पूरा नहीं देख पाता। घन आए तो साथ ही बिजली की कौंध भी आई जिसने प्रिय को देखने ही नहीं दिया। बाद में बुद्धि को संदेह होने लगा कि वे आनंदघन सचमुच हैं भी या नहीं, -

चेतक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नैकु दिखाई।
कौंध में चौंध भरे चख हाय कहा कहौं हेरनि ऐसे हिराई।
बातें बिलाय गई रसना पै, हियो उमग्यौ, कहि एकौ न आई।
साँच कि संभ्रम हौं घन आनंद सोचनि ही मति जाति समाई।

यहाँ प्रस्तुत वर्ण्य-भाव प्रिया-मिलन है, पर वह घन के अप्रस्तुत व्यापारों द्वारा व्यक्त किया गया है। अंतिम पंक्ति में परमेश्वर की सत्ता के अस्ति-नास्ति के संदेहों की ओर भी संकेत किया गया जान पड़ता है। इसकी छाया में ऊपर की तीनों पंक्तियों का अर्थ परमेश्वर को प्रिय मानकर क़िया जा सकता है।

घनानंद की यह रहस्य शैली कबीर आदि ज्ञानमार्गी संतों की रहस्य शैली से भिन्न है। सतही तौर पर सूफी काव्य-परंपरा से इसका मेल हो सकता है पर सूफियों का अध्यात्म धर्म दर्शन से जुड़ा है और अध्यात्म सर्वसाधारण दार्शनिक भावना है। वस्तुतः घनानंद सखी सम्प्रदाय के उपासक थे जिसमें रहस्य की भावना नियत रूप से वर्तमान रहती है।

वक्रता घनानंद की शैली की प्रमुख विशेषता है। आचार्य कुंतक का विश्वास है कि साधारण तरीके से किसी प्रकार के रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह वक्रोक्ति से संभव है। हिंदी में जहाँ अनुभूति थी वहाँ चमत्कार नहीं था, चमत्कार था तो अनुभूति नहीं थी। घनानंद ने दोनों का योग किया है। इनकी रचनाओं में अनुभूतिमूलक वक्रताऐं विद्यमान हैं। उन्होंने कहीं-कहीं उर्दू-फारसी की वस्तु वक्रता अपनाई है। किंतु वह उनकी गंभीर अनुभूति के अनुकूल नहीं पड़ती थी।

घनानंद ने अपने कवित्त-सवैयों में अपनी प्रेयसी सुजान तथा अपना नाम प्रायः सर्वत्र प्रयुक्त किया है। इन दो में भी प्रधान आनंदघन शब्द है। समस्त रसात्मक तथा भक्ति भावपूर्ण रचनाओं का वही आधार है। सुजान तथा आनंदघन गुणवाचक विशेषण मान लिए गए हैं। ऐसे स्थल कम ही मिलेंगे जहाँ आनंदघन या घनआनंद कवि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हो। अपने तथा अपनों के नाम का सौंदर्य के साथ काव्य में प्रयोग घनानंद की काव्य-कला की एक विशेषता मानी जाएगी।

घनानंद की शैली आत्म-निवेदन की है। कवि अपने को प्रिय अथवा प्रेमी मानकर भाव-निवेदन करता है। संस्कृत-प्राकृत के काव्यों में यह शैली दृष्टिगत नहीं होती। फारसी साहित्य में यह शैली प्रचलित रही है। रीतिकाल के स्वच्छंदधारा के कवियों में घनानंद और आलम ने इस शैली को अपनाया। स्वयं प्रेमी

HMDC-066

होने के नाते प्रेमकथा को अपने आप ही कहना इन्हें अच्छा लगा। स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण इन्हें भारतीय समाज की उस मान-मर्यादा की परवाह नहीं थी जिसकी परवाह रीतिमार्गी कवियों ने की थी।

घनानंद ने कवित्त और सवैया छंदों में ही अपनी अधिसंख्य रचनाएँ रची हैं। उन्होंने सवैया छंद के प्रयोग में रुचि की विविधता का प्रदर्शन नहीं किया है। अपनी कोमल लय के कारण सवैया छंद शृंगार वर्णन में विशेष प्रचलित हुआ। घनानंद के अधिसंख्य सवैये अत्यंत कोमल शब्दावली में रचे गए हैं। उनसे संगीत की मधुर गूँज उत्पन्न होती है। उनके सवैयों में नरोत्तम दास तथा मतिराम की सी सरलता और कोमलता मिलती है। घनानंद के कवित्त औरों की अपेक्षा सरल-कोमल तो हैं ही इनके कवित्तों में छंद विन्यास भी उच्च कोटि का है। इन दो छंदों के अतिरिक्त सुमेरू, त्रिलोकी, दोहा, अरल्ल, नाटक आदि छंदों में भी रचनाएँ की गई हैं।

घनानंद की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग अत्वहव ही सीधी-सरल शैली में मार्मिक भावो को व्यक्त करने वाले पद्य अधिक हैं। वैसे कवि के जो भाषा संबंधी आदर्श हैं उसमें अलंकारों का स्थान है, पर वे अर्थोपकारक हों। हृदय के भवन में मौन का घूँघट डालकर जो बात बनिता बैठी रहती है वह रस की मणियों तथा पदार्थों के मंजु भूषणों से शोभायमान होती है -

उर भौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठी विराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सो सु लसै हुलसै रस रूप मनी।

घनानंद के काव्य में यमक, श्लेष, अनुप्रास, उपमा, सांगरूपक, व्यतिरेक, अनन्वय, संदेह, विनिमय, प्रतीप, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, विरोध, हीनोपमा आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है। स्पष्ट है कि जिन अलंकारों का उन्होंने प्रयोग किया है वे प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार के अलंकार सभी के काव्य में आ सकते हैं। इससे कवि की प्रवृत्ति अलंकार निरपेक्ष प्रतीत होती है।

16.7 घनानंद की काव्य-भाषा

घनानंद की दृष्टि में काव्य-कला में भाषा उपेक्षणीय तत्व नहीं है। उसका बड़ा महत्व है। कवि कहता है कि हृदय को छलने का साधन भी अक्षर ही है और उसे तृप्त करने का साधन भी वही है। यद्यपि सत्य अक्षर से दूर है, पर अक्षर ही उसका परिचय कराता है। भाव-मग्न होकर अक्षर की गति जानने पर तत्व बोध हो जाता है -

अच्छरै मन को हरै बहुरि अच्छर ही भावै
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरै बतावै
तच्व बोध बौरानि में अच्छर गति अच्छर लहै।

घनानंद की दृष्टि में शब्द वक्रता के सूक्ष्म श्वास-प्रश्वासों का ही पवन पट है जो अनुराग के रंग में रंगा रहता है। बहरहाल इससे स्पष्ट है कि घनानंद काव्य भाषा के प्रति बेहद सतर्क तथा संवेदनशील व सृजनात्मक थे।

घनानंद के भावों के समान ही उनकी भाषा में भी नवीनता है। उनकी भाषा टकसाली ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के सबसे स्वच्छ, अमिश्रित तथा प्रवाहपूर्ण रूप का प्रयोग केवल रसखान और घनानंद ही कर सके। इनमें घनानंद की भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्य और व्यंजना का सौंदर्य रसखान की अपेक्षा अधिक है। घनानंद ने लक्षणा शक्ति के द्वारा विरोध-वृत्ति को उभारकर भाषा का सौंदर्य कई गुना बढ़ा दिया है। इसी प्रकार उनमें मानवीकरण का प्रयास भी पग-पग पर दीख पड़ता है। इस दृष्टि से उनकी तुलना आधुनिक काल के छायावादी कवियों से की जा सकती है।

घनानंद की भाषा में माधुर्य अप्रतिम है। उनकी रचनाओं में कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग भरसक नहीं मिलेगा। एक ओर वे लोक जीवन के व्यंजक शब्दों का प्रयोग कर अनोखी दीप्ति पैदा करते हैं, दूसरी ओर फारसी के विद्वान होते हुए भी वे अपनी भाषा को फारसी बोझिल नहीं होने देते। उन्होंने मुहावरों और कहावतों के योग से भाषा की व्यंजकता बढ़ा दी है। मुहावरों के प्रयोग की पद्धति निश्चय ही फारसी की प्रेरणा से ग्रहण की है। पर फारसी के मुहावरों की योजना नहीं की, जैसा उर्दू वालों ने

HMDC-066

किया। उन्होंने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग करके जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुँचाया है वह स्थान-स्थान पर दर्शनीय है -

रावरै पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

पेट की 'बूझ न पड़ना', 'पचाना' और 'भूखे डोलना' तीनों प्रयोग लाक्षणिक हैं।

घनानंद की काव्य-भाषा में व्याकरण व्यवस्था का संघटन पूर्ण रूप से विद्यमान है। बिहारी की भाषा भी व्यवस्थित तथा साहित्यिक है, पर घनानंद जैसी सजीव और लाक्षणिक नहीं है। फिर भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना सोलहो आने ठीक है कि बिहारी और घनानंद को मिलाकर ब्रजभाषा का समूचा व्याकरण तैयार किया जा सकता है।

संक्षेप में, भाषा की समृद्धि के जितने भी उपादान होते हैं, वे सब घनानंद की काव्य भाषा में उपलब्ध हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि भाषा के विचार से तो रीतिबद्ध कवियों में से बहुत कम इनकी तुलना में टिक सकेंगे। अंततः घनानंद की कविता के भाव पक्ष और कला पक्ष के विवेचन के पश्चात कहा जा सकता है कि रीतिकाल के राजसी परिवेश में प्रश्रय पाकर भी उन्होंने अपनी कविता को सामंती विलास की बांदी नहीं बनने दिया।

16.8 सारांश

- घनानंद रीतिकाल के एक विलक्षण कवि हैं। उनकी कविता रीतिमार्गी कविताओं से सर्वथा भिन्न है।
- रीतिकालीन काव्यादर्श काव्य के बाह्य रूपों को सँवारने-सजाने के थे। घनानंद के यहाँ अनुभूति पक्ष पर ज़ोर दृष्टिगत होता है।
- रीतिकालीन कविता साहित्यशास्त्र की रूढ़ियों पर अत्यधिक आश्रित है। इसके विपरीत, घनानंद ने स्वकीय अनुभूतियों पर विश्वास किया और अपने हृदय की भोगी हुई पीड़ा को अपनी कविताओं में रूपायित किया।
- घनानंद मूलतः एक प्रेमी कवि थे। उनका प्रेम संबंधी दृष्टिकोण रीतिमार्गीय प्रेम से भिन्न है। वह गार्हस्थिक नहीं है। वह विषम प्रेम है। यहाँ प्रेम व्यथा प्रधान है। यह प्रेम भावात्मक है, शारीरिक नहीं।
- घनानंद की प्रेम-भावना में अतींद्रिय सौंदर्य के रहस्यमय संकेत विद्यमान हैं। उनकी कविता में भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास होता है। उनकी दृष्टि में मानवीय प्रेम ईश्वरीय प्रेम का ही लघुतम अंश है। सूफियों की भाँति घनानंद ने लौकिक प्रेम में कई स्थानों पर ब्रह्म प्रेम का आभास दिया है। लेकिन फारसी का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी घनानंद ने भारतीय रंग का सर्वथा त्याग नहीं किया है।
- घनानंद की प्रेमानुभूति स्वच्छंद है। उन्होंने प्रिय व्यापार के कृत्रिम रूपों का त्याग किया है। रीतिमार्गी कवि बुद्धि के बल से ही भाव का अनुमान करते थे और उसी के बल से प्रेम के बाह्य रूप विधान का संधान करते थे। घनानंद ने प्रेम को हृदय की शुद्ध, निश्छल भावधारा माना है, बुद्धि का उसमें गौण स्थान है।
- घनानंद की रचना अभिधा में कम लक्षणा और व्यंजना में अधिक है। उनकी शैली में वक्रता तथा ऋजुता दोनों दृष्टिगत होती है। शैली का आंतरिक रूप भाव-प्रधान है, विभाव-प्रधान या वस्तु-प्रधान नहीं। वह आत्म-निवेदन की शैली है।
- घनानंद ने कवित्त और सवैयों में ही अपनी अधिसंख्य रचनाएँ रची हैं। अलंकारों का प्रयोग अत्यल्प दृष्टिगत होता है।
- घनानंद की काव्य भाषा **टकसाली ब्रजभाषा है। उसका माधुर्य अप्रतिम है। मुहावरों और** कहावतों के योग से भाषा की **व्यंजकता बढ़ गई है। व्याकरण व्यवस्था का संघटन पूर्ण रूप से विद्यमान है**

16.9 अभ्यास/प्रश्न

1. घनानंद की कविता में वर्णित प्रेम रीतिकाल के अन्य कवियों से किन मायनो में अलग है।
2. घनानंद के काव्य-कौशल और भाषा पर विचार कीजिए।

HMDC-066

इकाई 17 पद्माकर की कविता

इकाई की रुपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 पृष्ठभूमि
17.3 शृंगार वर्णन
  17.3.1 संयोग वर्णन
  17.3.2 वियोग वर्णन
17.4 प्राकृतिक वर्णन
17.5 लोक जीवन का चित्रण
17.6 काव्य शिल्प
17.7 काव्य भाषा
17.8 सारांश
17.9 अभ्यास/प्रश्न

17.0 उद्देश्य

पिछली इकाइयों में आपने बिहारी और घनानंद का अध्ययन किया था। इस इकाई में हम रीतिकाल के एक प्रमुख कवि पद्माकर का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- पद्माकर की कविता में वर्णित शृंगार की विशेषताओं को जान सकेंगे
- पद्माकर की कविता में प्रकृति वर्णन और लोक जीवन के चित्रण की विशेषताएँ जान सकेंगे; और
- पद्माकर की शिल्पगत और भाषागत विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

पद्माकर रीतिकाल के अंतिम खेवे के कवियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रसिद्धि एक कवि और आचार्य दोनों रूपों में है। उन्होंने तीन प्रकार के काव्य-ग्रंथों की रचना की है - प्रशस्ति काव्य, रीतिकाव्य और भक्तिकाव्य। प्रशस्ति काव्य दो हैं - **'हिम्मतबहादुर विरुदावली'** और **'प्रतापसिंह विरूदावली'**। रीतिकाव्य के अंतर्गत भी दो पुस्तकें प्रधान हैं - **'पद्माभरण'**, जो महाराज जसवंत सिंह के **'भाषा भूषण'** की शैली में लिखी अलंकार की पुस्तक है और **'जगद्विनोद'**, जो शृंगार रस और उसके एक प्रमुख अंग नायिका भेद का निरूपक ग्रंथ है। पद्माकर के नाम पर एक तीसरा रीतिग्रंथ भी मिलता है- **अलीजाह प्रकाश**। लेकिन यह कोई स्वतंत्र कृति नहीं, प्रत्युत **जगद्विनोद** का ही अंशत: परिवर्तित रूप है, जिसकी रचना ग्वालियर के दौलत राव सिंधिया के नाम पर हुई है। एक ही पुस्तक को थोड़े हेर-फेर के साथ एकाधिक राजाओं की सेवा में उपस्थित करना उस युग के आश्रययोगी कवियों के लिए कोई नई बात नहीं थी। पद्माकर के भक्ति-वैराग्यपरक ग्रंथों में **ईश्वर पचीसी, प्रबोध पचासा, गंगा लहरी, राम रसायन** आदि के नाम लिए जाते हैं। सारत: पद्माकर ने अपने काव्यकाल के आरंभ में वीररसात्मक रचनाएँ की, मध्याह्न मे शृंगार का चषक भरा और पर्यवसान भक्ति में पाया।

किंतु पद्माकर की प्रसिद्धि का मूलाधार उनकी शृंगारिक रचनाएँ हैं। वे शृंगार रस के सिद्धवाक् कवि थे। वे जिस वातावरण में काव्य-सर्जना कर रहे थे, वह भी शृंगार के सर्वथा अनुकूल था। उस युग में जीवन का सात्विक उत्साह लुप्त हो गया था। औरंगजेब के प्रचंड शासन से दुबककर उत्तर भारत के राजा-महाराज सिर उठाने का साहस नहीं करते थे। उनके लिए शाही कर चुकाकर महलों के भीतर आराम करना ही सब कुछ था। राज-दरबारों में जीवन के बहुमुखी विस्तार से उदासीन हो शृंगार और विलासिता की सँकरी गलियों में अपने को भुलाये रखने की कोशिश की जा रही थी। दरबारी कवि राजाओं-महाराजाओं की प्रशंसा के साथ-साथ उनकी शृंगार-पिपासा को शांत करने के लिए नवोढ़ाओं की भाव-भंगिमा का चित्रण करने में ही लगे रहते थे। लोभ के चश्मे के भीतर से वे सबको शहंशाह मानते थे और केवल शृंगार-चषक पिलाकर उनके ऊपर दोहरा नशा चढ़ाया करते थे। रीतिकाल की गर्हित शृंगारिकता के बीच भूषण ने अवश्य सिंह गर्जन किया, पर औरंगजेब की आँखों के मुँदते ही हिंदूवाद का जलजला ठंडा हो गया। मराठों की शक्ति का उदय दक्षिण में हुआ, पर संघटन के अभाव में उसकी पराजय ने ऐसा पलटा खाया कि सारे भारतवर्ष में फिर सुख निंदिया की जँभुआई आने

NMDC-066

लगी। शृंगार के अड्डे जगह-जगह हो गए। छुटभैये जमीदारों तक का शगल नायिका-भेद की बारीकी निकालना एवं समझना हो गया। कवियों की लेखनी उसके निरूपण में लगी। पदमाकर का काव्य-संसार में आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ था।

17.2 पृष्ठभूमि

पद्माकर को अनेक राज दरबारों में आश्रय मिला। कहते हैं, उन्होंने सोलह-सत्रह साल की कम उम्र में ही सागर नरेश रघुनाथ राव को एक कवित्त सुनाया था; जिसपर प्रसन्न होकर रघुनाथ राव ने उन्हें एक लाख मुद्राओं से पुरस्कृत किया। पद्माकर को देव की भाँति ही अनेक राज दरबारों में भटकना पड़ा, यद्यपि उन्हें देव की अपेक्षा अधिक सहृदय और उदार आश्रयदाता मिले। पद्माकर के आश्रयदाताओं में प्रमुख हैं: महाराज जैतपुर, सुगरानिवासी नोने अर्जुन सिंह, दतिया नरेश महाराज पारीक्षत, रजधान के गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर, सताराधिपति रघुनाथ राव (राघोबा), जयपुर-नरेश सवाई प्रताप सिंह और उनके पुत्र महाराज जगत सिंह, उदयपुर के महाराणा भीम सिंह और ग्वालियर-नरेश दौलत राव सिंधिया। पद्माकर को इन राज-दरबारों में पर्याप्त सम्मान के साथ बहुत अधिक धन-सम्पत्ति की भी प्राप्ति हुई। उन्होंने स्वयं महाराजा जगत सिंह के सम्मुख आत्मपरिचय का जो कवित्त पढ़ा था उससे उनके व्यक्तित्व और ऐश्वर्य का पता मिलता है :

भट्ट तिलंगाने को बुंदेलखंडवासी कवि,
सुजस प्रकासी 'पद्माकर' सुनाया हौं।
जोरत कवित्त छंद छप्पय अनेक भाँति,
संसकृत प्राकृत पढ़े जु गुनग्रामा हौं।।
हय रथ पालकी गयंद गृह ग्राम चारू,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं।।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हौ जगत सिंह,
तेरे जान तेरो वह विप्र हौं सुदामा हौं।।

पद्माकर बड़े राजसी ठाठ में रहते थे - यह बात तो इस कवित्त से झलकती ही है। ये जब जयपुर में रहते थे तो बड़े लाव-लश्कर के साथ सफर के लिए निकलते थे। एक बार जयपुर से बाँदा जाते समय उनके लाव-लश्कर को देखकर बूँदी वालों ने समझा कि कोई हमारे राजा पर चढ़ाई करने आ रहा है, तब इन्होंने उनका भ्रम दूर करने के लिए एक कवित्त बनाकर सुनाया -

नाम 'पद्माकर' डराऊ मत कोऊ भैया,
हम कविराज हैं प्रताप महराज के।

बहरहाल पद्माकर को विभिन्न राज-दरबारों में आश्रय मिला। कोई भौतिक कष्ट नहीं था, सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं। हाँ, चौथेपन में श्वेत कुष्ट अवश्य हो गया था। उनकी सारी कविता उनके जीवन के अनुकूल ही चलती रही। नव-यौवन में उन्होंने वीर रस को अपनाया, युवावस्था में शृंगार रस में डूबे और ढलती अवस्था में भक्ति की कविता की। किंतु साहित्येतिहास उन्हें शृंगारिक कविताओं के कारण ही स्मरण करता है।

पद्माकर का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ **'जगद्विनोद'** शृंगार का संदर्भ-ग्रंथ है, यद्यपि उसमें अन्य रसों के उदाहरण भी अंत में चलते ढंग से दे दिए गए हैं। कवि ने इसके आरंभ में ही घोषणा की है -

नवरस में शृंगार रस, सिरे कहत सब कोइ।
सुरस नायिका-नायकहि, आलंबित ह्वै होइ।।

इस प्रकार इसमें पद्माकर शृंगार रस और उसके प्रमुख अंग नायक-नायिक भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

पद्माकर जयपुर के महाराजा जगत सिंह के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और उन्हीं के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ **'जगद्विनोद'** रचा। उन्होंने इसमें हिंदी की चली आती हुई रीति परम्परा का पूर्ण अनुगमन किया है। संस्कृत में कार्य भेद से नायिकाओं के आठ रूप माने गए हैं, पर हिंदी में बहुत

HMDC-066

पहले से अष्टनायिका के स्थान पर दशनायिका का निरूपण होता आया है। यद्यपि इस आठ और दस में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है। सात भेद तो वे ही हैं, केवल प्रोषितभर्तृका के ही तीन-चार भेद और कर डाले गए हैं। वस्तुत: नायक के प्रवास-प्रसंग को लेकर इन भेदों की कल्पना कर ली गई है - प्रोषितपतिका, प्रवत्सत्पतिका और आगतपतिका। इनमें से प्रवत्सत्पतिका को परंपरा में न देखकर अलग कर दिया है। बहरहाल पद्माकर ने नायिका-भेद के उदाहरण अधिकांश मौलिक रखे हैं। हाँ, **साहित्य-दर्पण** या प्राचीन संस्कृत-काव्यग्रंथों के चार-पाँच उदाहरण इन्होंने अनुवाद करके भी रखे हैं। पद्माकर ने उदाहरण बहुत साफ दिए हैं, इनके लक्षण भी बहुत साफ हैं। मतिराम का **रसराज** भी इसी शैली का और ऐसा ही साफ ग्रंथ है। खैर, पद्माकर के नायिका-भेद के संदर्भ में अद्भुत अभिव्यंजना शैली का दर्शन होता है। निम्नांकित छंद में नायिका कह तो रही है अपनी सखी से, पर सुना रही है अपने प्रियतम को ही। उसका क्रोध व्यंग्य है-

पीतम के संग ही उमगि उड़ि जैबे का।
न एता अंग-अंगनि परंद-पखियाँ दईं।
कहै 'पद्माक्रर' जे आरती उतारैं, चौंर
ढारैं, श्रम हारैं, पै न ऐसी सखियाँ दईं।।
देखि दृग ह्वै ही सों न नेकु हु अघैये,
इन ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ दईं।
कीजै कहा राम स्याम-आनन बिलोकिबे कों,
बिरचि बिरंचि न अनंत अखियाँ दईं।।

17.3 शृंगार वर्णन

रीतिकाव्य के पूर्व शृंगार की प्रमुखता प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में मिलती है। प्राकृत-काव्यों में कविगण राज-दरबारों की सीमाओं को तोड़कर जन-समाज के भीतर तो घुसे, पर केवल शृंगार के ही फेर में रहने के कारण उसका स्वरूप बिगड़ने लगा। हाल-रचित प्राकृत रचना **गाथासप्तशती** में विपरीत रति आदि के वर्णन की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। रीतिकाव्य पर इस शृंगारिक काव्य-परंपरा का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। इससे प्रभावित होकर केशव व बिहारी ने शृंगार का स्वरूप कहीं-कहीं ऐसा खींच दिया है, जिसे शृंगाराभास कहना चाहिए। कहीं-कहीं तो विरोधाभास भी हो गया है। बिहारी का एक दोहा देखिये -

बिहँसि बुलाई बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुसकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यो मुख चूमि।।

नायिका बालक का मुख इसलिए चूमती है कि प्रियतम ने उसे चूमा है। यहाँ वात्सल्य भाव सर पर पाँव रखकर भाग गया है।

पद्माकर की शृंगार-भावना ऐसी स्थूल नहीं है। बिहारी की तरह शृंगार के गर्हित चित्रण की शर्त पर वात्सल्य प्रेम का तिरस्कार उनके यहाँ नहीं मिलता है। उन्होंने 'रति विपरीत' आदि के चित्र अवश्य किए हैं, पर यहाँ केवल नायिका-भेद के सिलसिले मे काव्य-परंपरा का पालन भर किया गया है। बहरहाल पुरानी लीक को भी अपनी विशेषता से पद्माकर ने कहीं-कहीं बहुत कोमल बना दिया है। जैसे विभ्रम भाव का यह उदाहरण देखिये -

बछरै खरी प्यावै गऊ तिहि को पद्माकर को मन लावत है।
तिय जानि गिरैया गही बनमाल सु ऐंचे लला इँच्यो छावत है।।
उलटी करि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि कै दावत हैं।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है।।

17.3.1 संयोग वर्णन

शृंगार-वर्णन के संदर्भ में पद्माकर का ध्यान भाव-वर्णन की अपेक्षा वस्तु-वर्णन पर अधिक है। चित्रधर्मिता उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। वे बिहारी के बाद रीतिकाल के सबसे बड़े शब्द **चित्रकार** हैं। उनके द्वारा खींचे गए चित्रों में बिहारी की भाँति रंगों का इकहरापन नहीं, बल्कि एक

HMDC-066

सफल चित्रकार की वर्ण विपुलता और सामंजस्य है। उदाहरण के लिए, नायिका का यह मनमोहक चित्र देखिये -

जाहिरै जागत-सी जमुना जब बूड़ बहै उमहै वह बेनी।
त्यों 'पद्माकर' हरि के हारन गंग-तरंगन को सुख देनी।।
पाँयन के रंग सों रँगि जाति-सी भाँति-ही-भाँति सरस्वती सेनी।
परै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहँ ताल में होत त्रिबेनी।।

कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि पद्माकर के हाथ में सचमुच कलम नहीं, तूलिका ही थी, जो भावना के हर मोड़ को चित्रों में बाँधती चलती थी। ऊपर के सवैये में यदि रंगों का कुशल संयोजन है तो प्रस्तुत कवित्त अनुभाव योजना में बेजोड़ है -

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ, बोरि गई रंग मों सुगंधन झकोरै है।
कहै 'पदमाकर' इकत चलि चौकी चढ़ि, हारन के बारन ते फंद-बंद छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सुऊरून दुबीचे दाबि, आँगी हू उतारि सुकमारि मुख मोरे है।
दंतन अधर दानि दूनरि भई-सी चापि, चौवर-पचौवर कै चूनिर निचोरै है।।

नायिका होली खेल कर आई है, वह अपनी रंग-भरी चुनरी निचोड़ रही है। इसमें निचोड़ते समय के सभी अंगों के कार्य-व्यापार का उल्लेख किया गया है। मुख का मोड़ना, ओठों को दाँतों से दबाना, शरीर का धनुष की भाँति दोहर जाना और उरूओं के बीच वस्त्र को दबाना, वस्त्र को कई परत करके निचोड़ना आदि बहुत साफ है। गणिका का यह रूप-चित्रण देखिये -

आरस सों आरत सँभारत न सीस-पट,
गजन गुजारत गरीबन की धार पर।।
कहै 'पद्माकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर।।
छाजति छबीली छाति छहरि छरा को छोर,
भारे उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।।

गणिका का स्वरूप इसमें बहुत साफ दिखाई पड़ता है। प्रात: काल वह द्वार पर एक हाथ रखे दूसरे में कमल का फूल लिए खड़ी है। कवित्त पढ़ने पर ऐसा जान पड़ता है मानो कवि ने कोई चित्र सामने रखकर यह पद्य रचा है। रीतिकाल के कवियों में बिहारी भी एक सधे हुए शब्द चित्रकार दृष्टिगत होते हैं। किंतु बिहारी के यहाँ रूप-सौंदर्य की छटा दिखाने के लिए जगह कम थी। दोहे के छोटे-से दायरे में वे रूप-सौंदर्य का चित्र खींचने का प्रयास तो बराबर करते रहे। इसमें इन्हें सफलता भी मिली, पर विस्तृत क्षेत्र न मिलने के कारण कहीं-कहीं चित्र वैसा नहीं बन पाया है, जैसा पद्माकर के यहाँ है। पद्माकर के यहाँ रूप-सौंदर्य के चित्रण के लिए स्थल संकोच नहीं था। उन्होंने सवैयों व कवित्तों का विस्तृत क्षेत्र लिया। इसलिए उनके चित्र बहुत साफ उतरे हैं। रीतिकाल के एक अन्य प्रमुख कवि घनांनद के यहाँ नारी के रूप का चित्रण करते हुए अंत:करण संवलित रूप-चित्रण पर ही दृष्टि रखी गई है। बिहारी के यहाँ अंत:करण कुछ गौण है, प्राय: बाह्य रूप ही प्रधान हो गया है। पदमाकर के यहाँ या तो अंत:कण और बाह्य रूप में समस्थिति है या शुद्ध बाह्य चित्रण है।

पद्माकर हास-विलासमय जीवन के कवि थे। इसलिए उनकी कविताओं में जीवन के उल्लास और माधुर्य-पक्ष की बड़ी मनोहारी व्यंजना हुई है। इस संदर्भ में यह सवैया देखें -

फागु की भीर अभीरन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तें सुविदा दई मोड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी।।

यह सवैया अपने रस प्रवाह और भंगिमा वैशिष्ट्य के कारण काफी लोकप्रिय है।

NMDC-066

पद्माकर की शृंगार-भावना उच्छृंखल या अनैतिक नहीं है। उन्होंने पति के गर्व का एक अच्छा छंद रचा है। पत्नी को पति नैहर नहीं जाने देता, यद्यपि वहाँ के लोग नायिका के लिए दुःखी हैं -

मो बिन माइ न खाइ कछू, 'पद्माकर' त्यों भई भाभी अचेत है।
बीरन आये लिबाइवे को तिनकी मृदुबानि हू मानि न लेत है।।
प्रीतम को समुझावति क्यों नहीं, ये सखी तू जु पै राखति हेत है।
और तो मोहि सबै सुख री, दुख री यहै माइके जान न देत है।।

पति-प्रेम की बेजोड़ व्यंजना इस सवैया से होती है। यहाँ वर्ण्य सामग्री साधारण जीवन से ली गई है। अधिकांश रीतिकवि साधारण जीवन में कम घुसे हैं। उनके लिए वर्णन-सामग्री राधा-माधव की प्रेम क्रीड़ा ही विशेष रही है। पद्माकर के यहाँ भी यह स्थिति दिखाई पड़ती है, किंतु इन्होंने अपनी वर्णन-सामग्री सामान्य जीवन से भी चुनी है। यहाँ पद्माकर ने सामान्य जीवन का वर्णन किया है, वहाँ अनोखापन आ गया है। रूप के गर्व की व्यंजना का यह उदाहरण देखिए -

है नहिं माइको मेरी भटू यह सासुरो है सबकी सहिबो करौ।
त्यों 'पद्माकर' पाइ सोहाग सदा सखियान हु को चाहिबो करौ।।
नेह भरी बतियाँ कहिकै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ।
चंदमुखी कहें होती दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ।।

17.3.2 वियोग वर्णन

पद्माकर के शृंगार वर्णन की सबसे बड़ी सीमा यह है कि उनके यहाँ संयोग शृंगार का ही विशेष विस्तार है, विप्रलंभ का उतना नहीं। कलिदास मेंघदूत में कहते हैं वियोग-पक्ष में ही प्रेम का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, वह राशीभूत हो जाता है-

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति।

कालिदास की इस मान्यता पर गंभीरता से दृष्टिपात करने का अवकाश पद्माकर को नहीं था। इसलिए उनका वियोग वर्णन कहीं-कहीं ऊहात्मक भी हो गया है। जरा विरह की यह ज्वाला तो देखिये -

घन घमंड पावस-निसा, सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रानपति जानि गो, तज्यौ मानिनी मान।।

किंतु पद्माकर ने जहाँ रीतिकालीन लीक से हटकर वियोग का चित्रण किया है, वहाँ रसात्मकता और नवीनता आ गई है। मुग्धा के विरह का वर्णन देखिये -

माँगि सिख नौ दिन की न्यौते गे गोविंद,
प्रिय सौ दिन समान छिन मान अकुलावै है।
कहै 'पद्माकर' छपाकर छपाकर तें,
बदन-छपाकर मलीन मुरझावै है।।
बूझत जु कोऊ कै कहा री भयौ तोहिं,
तब और ही को और कछू बेदन बतावै है।
आँसू सकै मोचि न सँकोच-बस आलिन में,
उलही बिरह-बेलि दुलही दुरावै है।।
भरति उसासन, दृग भरति, करति गेह के काज।
पल-पल पर पीरी परति, परी लाज के राज।।

लाज के आधिक्य के कारण मुग्धा नायिका ह्रदय की बात किसी से कह नहीं सकती। घर का काम करते हुए वह एकांत में आहें भरती है। रो भी नहीं पाती, केवल आँखों में आँसू भरकर रह जाती है। अपनी व्यथा को छिपाने में वह प्रयत्नशील तो रहती है, किंतु देह का पीला पड़ना कैसे छिपाए। एकाध उदाहरण और देखिये -

HMDC-066

या ही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लगाइ एती अगिनि अवाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई ना बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया-बाती-सी।।

यहाँ श्लेष का चमत्कार अभिप्रेत है। किंतु वह भाव तक पहुँचाने में समर्थ है। प्रेमाधिक्य से वियोग के कारण जो विरहाधिक्य की व्यंजना है वह नायक को तत्पर करने में पूर्ण सहायक है।

प्रिय वियोग के कारण सुखद वस्तुएँ भी दुखद हो जाती हैं। पद्माकर ने भी वस्तुओं को दुखद रूप में लाक्षणिक ढंग से रखा है, पर सूधेपन के कारण बात हृदय पर आघात करती है -

ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो
हरि सों हमारे हयाँ न फूले बन-कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।।

जिसे हम प्यार करते हैं, यदि उसका सान्निध्य हमें प्राप्त न हो तो हम उसके कुशल से ही अपने चित्त का संतोष कर लेते हैं। इस संदर्भ में यह छंद देखिये -

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविंदँ कों
श्रीयुत् सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।।
कहै 'पद्माकर' तिहारी छेम छिन-छिन
चाहियतु, प्यारे मन-मुदित घने रहौं।।
बिनती इती है कै हमेस हू मुहै तौ निज,
पाइन की पूरी परिचारिका गने रहौ।।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
लगनि लाइ लाल मगन बने रहौ।।

प्रिय से वियोग होने पर घर सूना हो जाता है, एक उदास परिवर्तन दिखाई पड़ता है। और, इस उदास परिवर्तन का कारण न ढूँढ सकने में एक प्रकार की तीव्र वेदना छिपी रहती है -

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद से ह्वै गये हैं।
'पद्माकर' चाँदनी चंद हू के कछू औरहि डौरन च्वै गये हैं।
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनि कै न अबै दिन ह्वै गये हैं।
सखि वे हम वे तुम बेई वने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।।

17.4 प्राकृतिक वर्णन

शृंगार के प्रकरण में उद्दीपन के रूप में पद्माकर ने षड्ऋतु वर्णन भी किया है। यहाँ प्रकृति साध्य नहीं, साधन बनकर आयी है। पद्माकर वस्तुत: मानव-सौंदर्य के चितेरे कलाकार थे, प्रकृति की सम्मोहकता पर रीझने वाले सहृदय नहीं। अत: उनका प्रकृति चित्रण अधिकतर वर्णनात्मक है, उसमें संश्लिष्ट दृश्य योजना का अभाव है। एक उदाहरण देखें -

कूलन में केलि में कहारन में कुंजन में क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत हैं।
कहैं 'पद्माकर' परागन में पौन हू में पानन में पिक में पलासन पगंत हैं।
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत हैं।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में बगरो बसंत हैं।।

यह कवित्त विशुद्ध नामपरिगणात्मक है। इससे यह तो मालूम होता है कि सर्वत्र वसंत छाया हुआ है, पर यह वसंत का कोई संश्लिष्ट चित्र नहीं उपस्थित करता। इसके विपरीत, निराला का वसंत-गीत 'सखि वसंत आया' - वसंत का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है। इसमें 'नव वय लतिका', 'मधुप-वृन्द', 'पिक स्वर' या 'सरसी', 'सरसिज', 'केशर के केश', 'पृथ्वी के स्वर्ण शस्यांचल' आदि जिन उपादानों की चर्चा की गई है, वे ऊपर से भिन्न होते हुए भी अंतःसूत्रित हैं और उनके माध्यम से

NMDC-066

वसंत की एक पूरी तस्वीर सामने आ जाती है। पर पद्माकर द्वारा वर्णित दृश्यों में ऐसा न तो कोइ आंतरिक संबंध है, न तरतीब। यहाँ पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्मरण अनुचित न होगा कि काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।

सारत: मानव-व्यापारों के चित्रण में पद्माकर की वृत्ति रमी है, किंतु प्रकृति-चित्रण मे इन्होंने एकदम मनोयोग नहीं दिया है। ऋतुओं के वर्णन में इन्होंने खेलवाड़-सा किया है। भाषा, भाव और बाह्य स्वरूप तीनों दृष्टियों से उसमें कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती।

17.5 लोक जीवन का चित्रण

जैसा कि सर्वविदित है कि रीतिकाव्य में लोक जीवन के विभिन्न पक्ष सर्वथा उपेक्षित हैं। आश्रयजीवी कवियों के यहाँ यह स्वाभाविक ही था। पद्माकर भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी पद्माकर में लोक जीवन का सीमित अर्थों में चित्रण देखा जा सकता है। शृंगार वर्णन के संदर्भ में हम इसे रेखांकित कर चुके हैं। पद्माकर के प्रशस्ति काव्य और भक्ति और भक्ति काव्य में भी लोक जीवन की अनुगूँज सुनी जा सकती है। पद्माकर के प्रसिद्ध प्रशस्ति-काव्य **'हिम्मतबहादुर विरूदावली'** में नोने अर्जुन सिंह और हिम्मतबहादुर के बीच हुए युद्ध का फड़कती भाषा मे वर्णन है। इसमें वर्णनात्मक स्थलों की प्रधानता है। प्रबंध काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का भले कोई महत्व न हो, फिर भी इसमें तत्कालीन समाज की एक धुंधली-सी तस्वीर जरूर दिखाई पड़ती है।

अपने जीवन के संध्याकाल में पद्माकर का भी कुछ अन्य शृंगारिक कवियों की भाँति वैराग्य और भक्ति की ओर झुकाव हुआ। संभवत: इसका कारण स्वाभिमान को ठेस लगना और शारीरिक व्याधि थी। यह शृंगार के अतिरेक की प्रतिक्रिया भी हो सकती है। यद्यपि इस कोटि की रचनाओं में अनुभूति की सच्चाई पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। पद्माकर की भक्ति-विषयक कविता में भी संसार की जटिलताओं का ही चित्रण हुआ है। कहीं पेट की बेगार का निरूपण है, तो कहीं तृष्णा और वैर का वर्णन। उनकी भक्तिपरक रचनाओं में संसार की असारता के साथ ही संसार की भावनाएँ भी भीतर बैठी हुई हैं -

धोखा की धुजा है औ रूजा है महादोषन की,
मल की मँजूषी मोह-माया की निसानी है।
कहै 'पद्माकर' सु पानी-भरी खाल, ताके
खातिर खराब कत होत अभिमानी है।
राखे रघुराज के रहै तो रहै पानी,
न तौ जंगी जमराज ही के हाथनि बिकानी है।
जा ही लगि पानी तौ लौं देह सी दिखानी,
फेरि पानी गये खारिज परवाल ज्यों पुरानी है।।

इसमें 'पानी रहने' की भावना संसारी ही है।

पद्माकर की भक्ति भावना के केंद्र में कोई एक देवता नहीं है। लोक में जिन-जिन देवों की वंदना अथवा पूजा होती थी, उनके प्रति समभाव से वंदना की गई है। उनकी भक्ति-भावना असाम्प्रदायिक है। वे लौकिक दृष्टि से ही चलते थे। पद्माकर के भक्ति वैराग्यपरक ग्रंथ **'ईश्वर पचीसी'**, **'प्रबोध पचासा'**, **'गंगालहरी'** और **'रामरसायन'** में भक्ति भावनाएँ व्यक्त हुई हैं, किंतु इस क्रम में तत्कालीन लोक-जीवन के कष्ट भी चित्रित हुए हैं।

17.6 काव्य शिल्प

अब पद्माकर के काव्य शिल्प पर विचार करें। उन्होंने प्रबंधकाव्य और मुक्तक दोनों तरह की रचनाएँ की हैं। प्रबंध-काव्य के अंतर्गत **'हिम्मतबहादुर विरूदावली'** और **'प्रताप सिंह विरूदावली'** उल्लेखनीय हैं। किंतु प्रबंध-काव्य की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि न तो इसमें संबंध सूत्र का उचित निर्वाह है, और न रसमय स्थलों की अच्छी पकड़ ही। पद्माकर प्रबंधकार कवि थे भी

HMDC-066

नहीं। उनका यश तो मुक्तक रचनाओं पर ही अवलम्बित है। पद्माकर की शृंगारिक रचनाएँ मुक्तक शैली में हैं और ये रचनाएँ ही हमारे विवेचन का मुख्य विषय हैं। उन्होंने कवित्त, सवैये और दोहे रचे हैं। संस्कृत के **'अमरूक शतक'** के अनुकरण पर पद्माकर ने रसात्मकता उत्पन्न करने के लिए कुछ छंद संवाद शैली में रचे हैं। ऐसे छंद अपेक्षाकृत स्वाभाविकता लिए हुए हैं -

बोलत न काहे ए री? पूछे बिन बोलौं कहा,
पूछति हौं कहा भई स्वेद-अधिकाई है?
कहै 'पद्माकर' सु मारग के गये-आये,
साँची कहु मो सों आज कहाँ गई-आई हैं?
गई-आई हौं तो पास साँवरे के, कौन काज?
तेरे लिये लयावन सु तेरियै दुहाई है।
काहे तें न ल्याई फिरि मोहन बिहारी जू कों?
कैसे वाहि ल्याऊँ? , जैसे वाको मन ल्याई है।

'मोहन बिहारी जू' में बड़ी सार्थक व्यंजना है। इन संवादों के अंतिम उत्तर में ही वास्तविक भाव प्रकट होने दिया गया है।

काव्य-शिल्प के संदर्भ मे पद्माकर की अलंकार-योजना भी विचारणीय है। उनकी अलंकार-योजना वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने और भाव की अनुभूति तीव्र कराने में सहायक है। उन्होंने प्राय: साम्यमूलक अलंकारों - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का ही उपयोग किया है -

विंदु घने मेहँदी के लसैं कर, ता पर यों रहयो आनन आई कै।
इंदु मनो अरविंद पै राजत इंद्रवधून के वृंद बिछाइ कै॥

सारूप्य और साधर्म्य दोनो विचार से यहाँ उत्प्रेक्षित उपमान ठीक पड़ते हैं।

पद्माकर ने भीषण उत्प्रेक्षाएँ नहीं की हैं। बेंदा के छटककर गिरने पर कवि की उत्प्रेक्षा देखें -

नीलमनि-जटिल सुबेंदा उच्च कुच पै, परयो है
टूटि ललित ललाट के मजेजे तें।
मानो गिन्यो हेमगिरि सृंग पै सुकेलि करि
कढ़ि कै कलंक कलनिधि के करजें तें॥

श्लेष और उपमा के सहारे विरह की व्यंजना में कहा गया है -

याही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लागइ एती अगिनि आबती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई न बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया बाती-सी॥

भावानुभूति तीव्र कराने वाले अलंकारों के अतिरिक्त पद्माकर ने शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकार भी रचे हैं। पद्माकर की अलंकार-योजना के संदर्भ में **'पद्माभरण'** उल्लेखनीय है। यह है भी अलंकार ग्रंथ, जो महाराज जसवंत सिंह के **'भाषाभूषण'** की शैली में लिखा गया है। इसमें प्राय: एक ही दोहे में अलंकार के लक्षण और उदाहरण दोनों दिए गए हैं। पूर्वाह्न में लक्षण, उत्तरार्द्ध में उदाहरण। जैसे -

1. प्रतीप - **सो प्रतीप उपमान को जहँ कीजै उपमेय।**
   मुख सो सोभित सरद-ससि-कमल सुलोचन सेय॥

2. मीलित - **सो मीलित सादृस्त तें भेद न जान्यो जाइ।**
   अरून अधर में पीक की लीक न परति लखाई॥

NMDC-066

ऐसी तमाम पुस्तकों का आधार ग्रंथ जयदेव का **'चन्द्रालोक'** है। लेकिन पद्माकर के **'पद्माभरण'** पर बैरीसाल के **'भाषाभरण'** का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। यद्यपि इस ग्रंथ में केवल शृंगारिक उदाहरण देने का दुराग्रह नहीं दिखाया गया है। फिर भी 'पद्माकर' की शृंगार चेतना की बानगी इसमें देखी ही जा सकती है।

17.7 काव्य भाषा

आइए, अब पद्माकर की काव्य भाषा पर विचार करें। उनकी काव्यभाषा ब्रजभाषा है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उनकी लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा कारण उनकी सहज और प्रवाहपूर्ण भाषा शैली ही है। पद्माकर का भाव-क्षेत्र विस्तृत है और उनकी भाषा भावों की अनुवर्त्तिनी है। वे बुंदेलखंड के रहने वाले थे। इसलिए उनकी प्रारंभिक रचनाओं की भाषा पर बुंदेली का प्रभाव है। पद्माकर की भाषा का सबसे स्पष्ट गुण है उसका माधुर्य और प्रसाद। माधुर्य की सृष्टि के लिए पद्माकर प्रायः अनुप्रास का सहारा लेते हैं। अनुप्रास के प्रति उनमें अत्यधिक मोह दिखाई पड़ता है। वीर रस के प्रसंग में उन्होंने ओजमयता का भी अच्छा निर्वाह किया है।

कहते हैं, मुहावरों और कहावतों के प्रयोग से भाषा के पंख खुल जाते हैं। इस क्षेत्र में भी पद्माकर अपने समसामयिक कवियों से पीछे नहीं है। **'भूलि हू चूक परै जो कहूँ तिहि चूक ही हूक न जाति हिये तें'** जैसे उदाहरण उनकी प्रत्येक रचना में अनायास मिल जायेंगे। पद्माकर की भाषा-सिद्धि का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि परवर्ती अनेक कवियों ने उनके अनुकरण का प्रयास किया, मगर वह सफलता कदाचित् ही दुहराई जा सकी।

सतही तौर पर पद्माकर के कवित्व का ग्राफ अन्य रीति कवियों की तरह ही दिखाई पड़ता है। उन्होंने शृंगार वर्णन उसी संकुचित क्षेत्र के भीतर किया है जिसमें उनके पूर्ववर्ती अपनी शृंगार-वाटिका लगाते आ रहे थे। किंतु परिपाटी से अलग उन्होंने भावों की सीधी अभिव्यक्ति में अपनी जैसी भावुकता दिखाई है वैसी अन्यत्र नहीं।

17.8 सारांश

पद्माकर की महत्ता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि परवर्ती कवियों में ग्वाल, द्विजदेव, लछिराम पद्माकर के भावों की नकल करने बैठ गए। ग्वाल की 'यमुनालहरी' पद्माकर की 'गंगालहरी' की होड़ाहोड़ी में बनी और 'रस रंग' 'जगद्विनोद' के अनुगमन पर निर्मित हुआ। इन कवियों में विषय की ही समानांतरता नहीं है, उपविषय, प्रसंग, भाव आदि ठीक आमने-सामने भिड़े बैठे हैं। लछिराम ने भी 'गंगालहरी' की होड़ में 'सरयूलहरी' लिखी है। लछिराम में ग्वाल-सा अनुकरण तो नहीं है, पर पद्माकर के विषयों से बाहर लछिराम भी नहीं जा सके हैं। द्विजदेव की भी कुछ कविताएँ पद्माकर की जोड़-तोड़ में ही निर्मित हुई हैं। पं.विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि पुराने ढंग का कोई परवर्ती कवि ऐसा न होगा जिसने पद्माकर की कविता को पढ़ा या सुना न हो। पढ़ना और सुनना ही नहीं, उसका अनुगमन भी बहुतों ने किया है। शायद ही कोई परवर्ती कवि ऐसा हो जो पद्माकर के भावों की न सही, भाषा की सफाई की नकल करने न बैठा हो। भाषा के विचार से पद्माकर का हिंदी के पिछले खेवे के कवियों पर बहुत बड़ा प्रभाव है।

पद्माकर की सबसे बड़ी सीमा यह है कि उन्होंने काव्य को केवल राजाओं के रिझाने की ही वस्तु समझा, उसके प्रकृत आलंबन का ध्यान न रखा। जिन राजाओं की प्रशंसा में उन्होंने अपनी कवि-प्रतिभा को मुक्त-हस्त लुटाया, उनके द्वारा उन्हें विषाद ही मिला। इनके इस छंद से यही लक्षित होता है -

है थिर मंदिर में न रह्यो गिरि-कंदर में न तप्यो तप जाई।
राज रिझाने न कै कविता रघुराज-कथा न यथामति गाई।।
यों पछितात कछू 'पद्माकर' का सों कहौ निज मूरखताई।
स्वारथ हू न कियो परमारथ यों ही अकारथ बैस बिताई।।

IMDC-066

पद्माकर का यह पश्चाताप उनकी आत्मालोचना तो है ही, उनके काव्य की भी समालोचना है। इसके बावजूद कहना ही होगा कि पद्माकर रीतिकाल के उल्लेखनीय कवि हैं और वे अपना प्रभाव हिंदी कविता पर छोड़ गए हैं।

17.9 अभ्यास/प्रश्न

1. पद्माकर के शृंगार वर्णन की विशेषताओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. पद्माकर के काव्य शिल्प और भाषा पर प्रकाश डालिए।

NMDC-066

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

बिहारी, संपादक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
बिहारी का नया मूल्यांकन, डॉ. बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
घनानंद, डॉ. लल्लन राय, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली।
पद्माकर ग्रंथावली, संपादक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

NMDC-066